# भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम और राजनीतिक संकट

## एक सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

**धीरूभाई शेठ** से **मणींद्र नाथ ठाकुर** और **कमल नयन चौबे** की बातचीत

**पिछला डेढ़ साल भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए संकट का समय रहा है। अण्णा हज़ारे, अरविंद केजरीवाल और बाबा रामदेव के नेतृत्व में चली भ्रष्टाचार विरोधी मुहिमों के कारण अभी तक किताबों में बंद रही सिविल सोसायटी की अभिव्यक्ति अचानक  सामने आ गयी। घरों में आराम से बैठा रहने वाला शहरी मध्यवर्ग सड़कों पर निकल कर आंदोलनकारी मुद्रा अपनाने लगा। नेताओं, पार्टियों, विधायिका और गवर्नेंस की साख में तेज़ी से गिरावट हुई। इस परिस्थिति से उपजे सैद्धांतिक प्रश्नों पर वरिष्ठ राजनीतिक-समाजशास्त्री धीरूभाई शेठ से मणींद्र नाथ ठाकुर और कमल नयन चौबे ने दो बैठकों में अलग-अलग बातचीत की जिसमें नागरिक समाज, राज्य, राजनीतिक दल, गठजोड़ राजनीति, भूमंडलीकरण, लोकतांत्रिक व्यवस्था और समाज-चिंतन के बीच बन रहे पेचीदा संबंधों पर रोशनी पड़ी।**

I

# सिविल सोसायटी @ जंतर-मंतर या ग़ैर-दलीय राजनीति ?

**मणींद्र नाथ ठाकुर ( मणींद्र ) :** अण्णा हज़ारे के नेतृत्व में शुरू हुए भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन की रोशनी में आप भारत में नागरिक समाज की बढ़ोतरी की शिनाख़्त कैसे करेंगे ?

**धीरूभाई :** नागरिक समाज राजनीतिक दर्शन की एक स्थापित अवधारणा है। लेकिन भारत के सार्वजनिक विमर्श में यह अण्णा हज़ारे के नेतृत्व में भ्रष्टाचार-विरोधी आंदोलन की शुरुआत होने के साथ ही यकायक उभर कर सामने आयी है। अभी हाल तक, 'नागरिक समाज' का भाग समझे जाने वाले लोग ख़ुद को नागरिक समाज के रूप में नहीं देखते थे। इसके बजाय उनके लिए एनजीओ, स्वैच्छिक संगठन, ग्रासरूट संगठन, सामाजिक आंदोलन आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। लेकिन आज इन्हें नागरिक समाज के रूप में पहचाना जा रहा है। मीडिया और इंटरनेट में भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन का वर्णन करने के लिए इस शब्द का ख़ास तौर पर प्रयोग किया गया है।

औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक भारत में नागरिक समाज तीन चरणों में विकसित हुआ है : पहला, आज़ादी के आंदोलन के दौरान, दूसरा, जेपी आंदोलन के दौरान और तीसरा, उत्तर-वैश्वीकरण दौर में। जेपी आंदोलन के बाद देश के विभिन्न भागों में तरह-तरह के ग़ैर-सरकारी संगठन (एनजीओ) सामने आये। इसके बाद नागरिक समाज के विचार को सिर्फ़ भलाई का काम करने वाले संगठनों या विश्वविद्यालय जैसे संगठनों तक सीमित रखना बहुत ही मुश्किल हो गया। आजकल नागरिक समाज शब्द का उपयोग अपने उस शुरुआती स्तर से आगे जा चुका है जो इस शब्द की पश्चिमी अवधारणा के नज़दीक था। अपने नये अर्थ में नागरिक समाज शब्द में वे सारी परिघटनाएँ शामिल हैं, जिन्हें हम 'ग़ैर-दलीय राजनीतिक संगठन' में शामिल करते हैं। मैं 'ग़ैर-दलीय राजनीतिक संगठन' के विचार पर ज़ोर देना चाहूँगा। इसका ख़ास कारण यह है कि इसके तहत आंदोलनों की राजनीतिक अंतर्वस्तु छिपती नहीं। यह अवधारणा भारत में लोकतांत्रिक व्यवहार के विविध रूपों की जटिलता सामने लाने के लिए आवश्यक है। मुझे इस बात से हैरत होती है कि भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन का एक तबक़ा ख़ुद को ग़ैर-राजनीतिक कहता है। दरअसल, राजनीति शब्द के बुनियादी अर्थ के आधार पर इसे राजनीतिक ही कहा जा सकता है।

दरअसल, नब्बे के दशक की शुरुआत में भारत ने भूमंडलीकृत दुनिया में प्रवेश किया और विश्व-अर्थव्यवस्था से अपने 'एकीकरण' के लिए नयी आर्थिक नीतियाँ अपनायीं। इसके साथ ही इस अभिव्यक्ति का भी चलन बढ़ा। विदेशी फंडिंग एजेंसियों ने इसे चलाया। उन्होंने अपने सहयोगियों अर्थात आर्थिक मदद लेने वाले ग़ैर-सरकारी संगठनों (एनजीओ) को नागरिक समाज संगठन कहना शुरू किया। असल में एनजीओज़ को नागरिक समाज का अंग बता कर ये विदेशी एजेंसियाँ भारतीय एनजीओज़ के साथ अपने लेन-देन का औचित्य एक हद प्रमाणित कर पायीं। भारत के ग़ैर-सरकारी संगठनों ने भी ख़ुशी-ख़ुशी ख़ुद को नागरिक समाज का हिस्सा कहलाना स्वीकार किया। इस संदर्भ में एक रोचक बात यह देखी गयी कि राजनीतिक माहौल में बदलाव और एक नये राजनीतिक विमर्श

के उभार के साथ पुरानी स्थापित अवधारणा को नये अर्थ मिल सकते हैं और उसका स्थापित अर्थ धुँधला हो सकता है। यहाँ तक कि पहले की तुलना में इसका अर्थ उलट भी सकता है। ऐसा लगता है कि नागरिक समाज के विचार के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ है।

शीत युद्ध की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कारण भी नागरिक समाज की अवधारणा को पानी मिला है। ख़ास तौर पर शीत युद्ध की समाप्ति के समय सोवियत बुद्धिजीवियों और राजनीतिक विरोधियों ने नागरिक समाज शब्द का विचार अपनाया। सोवियत शासन का विरोध कर रहे लोगों ने ज़ोरदार तरीक़े से अपना तर्क रखा। भारत सहित पूरी दुनिया में अमेरिकी एकेडेमिया ने यह दलील ज़ोर-शोर से पेश की (इस बारे में विचार करते वक़्त हमारे दिमाग़ में *प्रॉब्लम्स ऑफ़ कम्युनिज़म* जैसा जर्नल आता है)। मोटे तौर पर यह तर्क इस प्रकार था : साम्यवादी राज्य का सिर्फ़ लोगों से सम्पर्क ही नहीं टूटा, बल्कि वह उनका दुश्मन हो गया। इसका कारण यह था कि इस राज्य में सत्ता एक छोटे समूह में ही केंद्रित हो कर रह गयी थी। राज्य लोगों से बहुत दूर चला गया था। वह लोगों से दूर बैठ कर शासन कर रहा था। सिर्फ़ नागरिक समाज का पुन: उभार ही राज्य को लोगों तक वापस ला सकता है। दूसरी तरफ़, मार्क्सवादी विश्लेषण में नागरिक समाज को निष्क्रिय, क्रांति-विरोधी और प्रतिगामी परिघटना के तौर पर देखा जाता है। इसके तहत माना जाता है कि यह बुर्जुआ लोकतंत्र से जुड़ा हुआ है।

सोवियत शासन ने लोगों को बहु-दलीय व्यवस्था और राजनीतिक आज़ादियों से वंचित रखा था। सोवियत शासन के विरोधियों का विश्वास था कि एक बहुदलीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के उभार और राजनीतिक आज़ादी हासिल करने के लिए राज्य को नागरिक समाज के अंतर्गत लाना ज़रूरी है। इस तरह सोवियत राज्य विरोधी विमर्श में नागरिक समाज शब्द ने एक ख़ास अर्थ हासिल किया। अब इसे राज्य के ख़िलाफ़ राजनीतिक कार्रवाई के रूप में देखा जाने लगा। जल्द ही यह भारत के सामाजिक एक्टिविस्टों और अकादमीशियनों की पसंदीदा अवधारणा बन गया। इनमें से बहुतों ने गहराई से विचार किये बिना नियमित रूप से 'समाज' की जगह नागरिक समाज शब्द का प्रयोग करना शुरू कर दिया। कई मौक़ों पर इस तरह का प्रयोग पूरी तरह से ग़लत था। जब अण्णा हज़ारे के आंदोलन ने सरकार के भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ लोगों को अच्छी-ख़ासी संख्या में गोलबंद किया, तो फटाफट इस शब्द को इसके साथ जोड़ दिया गया। अण्णा आंदोलन के साथ इसके उस अर्थ को भी जोड़ा गया जिसमें इसे राज्य के ख़िलाफ़ राजनीतिक कार्रवाई के रूप में देखा जाता है।

> **अपने नये अर्थ में नागरिक समाज शब्द में वे सारी परिघटनाएँ शामिल हैं, जिन्हें हम 'ग़ैर-दलीय राजनीतिक संगठन' में शामिल करते हैं। मैं 'ग़ैर-दलीय राजनीतिक संगठन' के विचार पर ज़ोर देना चाहूँगा। इसका ख़ास कारण यह है कि इसके तहत आंदोलनों की राजनीतिक अंतर्वस्तु छिपती नहीं।**

**मणींद्र :** आप कहना यह चाह रहे हैं कि नागरिक समाज के पहले भी एक नागरिक समाज था। तो सवाल यह है कि एक्टिविस्टों और अकादमीशियनों ने राजनीति के उस क्षेत्र को किस निगाह से देखा?

**धीरूभाई :** जब नागरिक समाज एक अभिव्यक्ति के तौर पर भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर आया, उस समय राज्य की प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं (चुनावों और राजनीतिक दलों) के बाहर चलने वाली लोकतांत्रिक राजनीति के बारे में गहरा वाद-विवाद चल रहा था। यह बहस लोकायन आंदोलन से जुड़े एक्टिविस्टों और 'पब्लिक इंटेलेक्चुअल्स' द्वारा शुरू की गयी थी। उन्होंने ग़ैर-दलीय राजनीति

की अवधारणा तैयार की और इसे लोकप्रिय बनाया। राजनीति के इस क्षेत्र का वर्णन ग़ैर-दलीय राजनीतिक समूह और आंदोलन के रूप में किया गया। दरअसल, इस पूरी परिघटना का वर्णन करने के लिए नागरिक समाज की तुलना में ग़ैर-दलीय राजनीतिक प्रक्रिया ज़्यादा अच्छी अवधारणा थी। यह ग़ैर-दलीय राजनीति का विचार जयप्रकाश नारायण द्वारा 1960 के दशक के शुरुआती वर्षों में विकसित किये गये दलविहीन लोकतंत्र की तरह नहीं था। इसमें संसदीय लोकतंत्र की जगह प्रत्यक्ष सहभागी लोकतंत्र लाने की बात नहीं कही गयी थी। लोकायन द्वारा शुरू की बहस का निचोड़ यह था कि संसदीय राजनीति के उस आयाम/क्षेत्र पर प्रकाश डाला जाये, जो लोकतांत्रिक राजनीति की असाधारण दुनिया (फेनोमेनल वर्ल्ड) का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन संस्थाबद्ध राजनीति करने वाले लोगों (दलों से जुड़े राजनीतिकों) ने इस विचार को संदेह की नज़र से देखा। राजनीतिक सिद्धांतकारों के एक तबक़े को ऐसा लगा कि मानो यह लोकतंत्र के पुरातन विचार का प्रतिनिधित्व करता है। शायद उन्होंने इसे उदारतावादी लोकतंत्र के लिए ख़तरा भी माना। ग़ैर-दलीय राजनीतिक समूहों में ऐसे व्यक्तिगत कर्त्ता (या एक्टर), सामाजिक एक्टिविस्ट, और समूह शामिल हैं जिनका उद्देश्य और कार्यक्रम बुनियादी रूप से राजनीतिक है, लेकिन जो दलों और चुनावों की राजनीति से परहेज़ करते हैं। इस बहस ने नागरिकों को याद दिलाया कि लोकतांत्रिक राजनीति सिर्फ़ दलों और चुनावों तक न सीमित है और न ही होनी चाहिए।

मोटे तौर पर, ग़ैर-दलीय राजनीति ने जन-हित में ख़ास मुद्दों को बुलंद करके राजनीतिक व्यवस्था तक पहुँचाया। लोगों की गोलबंदी के ज़रिये उसने राजनीतिक व्यवस्था को इन मुद्दों पर कार्रवाई करने के लिए मजबूर किया। ग्रासरूट (या ज़मीनी) आंदोलनों के राज्य स्तरीय समर्थक संगठनों की मुख्य गतिविधि यह थी कि वे राज्य के साथ विरोध और सहयोग का एक द्वंद्वात्मक संबंध क़ायम करते थे। ये लोगों के साथ और लोगों की ओर से काम करते थे। इसमें पूरे देश की अर्थव्यवस्था और समाज में हाशिये पर पड़े लोगों के बहुत से समूह शामिल थे। राजनीतिक दल इन लोगों की ज़रूरतों और अधिकारों की ओर ध्यान नहीं देते थे; यदि कभी-कभार उनका ध्यान चला भी जाता था तो भी इसे चुनावी राजनीति के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता था। लोग जिन समस्याओं का सामना कर रहे थे, उनके आधार पर वोट बैंक नहीं बनाया जा सकता था। स्थानीय और ग्रामीण समुदायों के लिए भ्रष्टाचार इतना ज़्यादा बढ़ चुका था कि उसने उनके लिए ज़िंदगी और मौत से जुड़े मुद्दे की शक्ल अख़्तियार कर ली थी। इस संदर्भ में एमकेएसएस यानी मज़दूर किसान संघर्ष समिति के उदाहरण पर विचार किया जा सकता है। इसका गठन अरुणा राय और उनके सहयोगियों ने किया था। इसने राजस्थान में राजनीतिक दलों से उपेक्षित पड़े लोगों के साथ जुड़ कर काम किया और सरकारी अधिकारियों को मजबूर कर दिया कि वे भ्रष्टाचार-मुक्त तरीक़े से विकास कार्यों का संचालन करें। बाद में इसी ने सरकारी भ्रष्टाचार से लड़ने के साधन के रूप में सूचना के अधिकार की माँग रखी। जल्द ही यह एक बहुत ही व्यापक अभियान बन गया। इस बार भी एमकेएसएस को सफलता मिली। यह राष्ट्रीय स्तर की सफलता थी। दरअसल, लोकायन की *ग़ैर-दलीय राजनीतिक समूह* की अवधारणा में इसी तरह की प्रक्रियाओं और आंदोलनों की कल्पना की गयी है। इसी तरह का एक और उदाहरण ग़ैर-दलीय समूहों और आंदोलनों का एक नेटवर्क एनएपीएम (नेशनल अलायंस ऑफ़ पीपल्स मूवमेंट्स) है। इसका नेतृत्व मेधा पाटकर कर रही हैं। इला बहन भट्ट की संस्था 'सेवा' भी एक अहम आंदोलन है जिसका रूप एनजीओ का न हो कर स्वरोज़गारशुदा स्त्रियों के लिए काम करने वाली ट्रेड यूनियन जैसा है। मधु पूर्णिमा किश्वर के नेतृत्व में चलने वाला *मानुषी* आंदोलन भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। इसने ग़रीबों, ख़ास तौर पर रिक्शा चलाने वालों और रेहड़ी-पटरीवालों के आर्थिक अधिकारों के लिए संघर्ष किया है। देश के दूसरे भागों में ज़मीनी स्तर पर इस तरह के बहुत से आंदोलन चल रहे हैं। मैंने यहाँ सिर्फ़ कुछ उदाहरणों का उल्लेख किया है।

नागरिक समाज की अभिव्यक्ति के चलन के कारण ग़ैर-दलीय राजनीतिक संगठनों से जुड़ा वाद-विवाद फीका पड़ गया। लेकिन ख़ास बात यह कि एक्टिविस्टों की एक अच्छी-ख़ासी जमात में ज़मीनी स्तर पर 'ग्रासरूट' आंदोलन का विचार 'जन-आंदोलन' के नाम से क़ायम रहा। हम सब जानते हैं कि हिंदुस्तान के अकादमीशियनों की यह प्रवृत्ति रही है कि पश्चिम से कुछ नये प्रचलित शब्दों के आने के साथ ही अपने शब्दों और अवधारणाओं को छोड़ देते हैं। मेरा यह मानना है कि कहीं से भी आने वाले नये शब्द को अपनाने में कोई हर्ज़ नहीं है। लेकिन इसे हमारे अनुभव से जुड़ा होना चाहिए। ऐसा होने पर ही हम अपने संदर्भ में इसका उपयोग सही तरीक़े से कर पाएँगे। इस संदर्भ में 'सेकुलरवाद' की अवधारणा एक प्रमुख उदाहरण है। हमने इसका उपयोग अपनी परिस्थितियों के हिसाब से किया है। समस्या तब खड़ी होती है जब एक नये शब्द को अपनाने के चक्कर में हम एक ऐसी अवधारणा को छोड़ देते हैं जो हमारी हक़ीक़त की ज़्यादा सही तरीक़े से व्याख्या करती है।

**मणींद्र :** क्या राजनीतिक दलों ने ग़ैर-दलीय राजनीतिक समूहों से जुड़े वाद-विवाद पर ध्यान दिया?

**धीरूभाई :** राजनीतिक दल 'ग़ैर-दलीय' संगठनों को महत्त्व देने वाले अकादमीशियनों और एक्टिविस्टों से खुश नहीं थे। यहाँ तक कि उन दिनों (1980 के दशक की शुरुआत में) वे यह मानते थे कि इस तरह के आंदोलन और संगठन उनके राजनीतिक महत्त्व को कम करते हैं। वामपंथी दलों, ख़ास तौर पर कम्युनिस्ट पार्टियों ने इसे पूरी तरह नापसंद किया। यहाँ तक कि अस्सी के दशक के मध्य में कम्युनिस्ट पार्टी के नेता प्रकाश करात ने अपनी पार्टी के जरनल में एक लेख लिख कर तर्क दिया कि ग़ैर-दलीय राजनीतिक संगठनों का उदय बुर्ज़ुआ वर्ग की रणनीति है जिसके द्वारा वे वामपंथ की क्रांतिकारी राजनीति का विरोध करना चाहते हैं। जो भी हो, हममें से कुछ लोग यह मानते थे कि इस तरह के संगठनों के उभार में व्यवस्था के लोकतंत्रीकरण की नयी राजनीति के बीज छिपे हुए हैं। इनके कारण लोगों की राजनीतिक भागीदारी और जागरूकता में काफ़ी बढ़ोतरी हुई। साथ ही, इसने विविध समूहों की राजनीतिक कार्रवाइयों को भी एक नयी ऊर्जा प्रदान की। इससे पूरे देश में अधिकारों की राजनीति का गहन उभार हुआ। यह एक ऐसी परिघटना थी जिसे बाद में विद्याधर नैपॉल ने 'मिलियन म्युटीनीज़' की संज्ञा दी। यह परिघटना स्थापित सार्वजनिक संस्थाओं से बुनियादी रूप से अलग थी।

राजनीतिक दल 'ग़ैर-दलीय' संगठनों को महत्त्व देने वाले अकादमीशियनों और एक्टिविस्टों से खुश नहीं थे। वे यह मानते थे कि इस तरह के आंदोलन और संगठन उनके राजनीतिक महत्त्व को कम करते हैं। वामपंथी दलों, ख़ास तौर पर कम्युनिस्ट पार्टियों ने इसे पूरी तरह नापसंद किया।

पारम्परिक रूप से विश्वविद्यालय, कॉलेज, दान-पुण्य करने वाले, सामाजिक सेवा उपलब्ध कराने वाले और कल्याणकारी समूहों को 'नागरिक समाज' का हिस्सा माना जाता रहा है। लेकिन ग़ैर-दलीय राजनीतिक संगठन इससे पूरी तरह अलग थे। वामपंथियों को, ख़ास तौर पर कम्युनिस्ट पार्टियों को, उन अकादमीशियनों से कोई दिक़्क़त नहीं थी जो नागरिक समाज का अर्थ इन्हीं संगठनों तक सीमित रखते थे। नागरिक समाज के इस सीमित अर्थ से रैडिकल/क्रांतिकारी राजनीति पर वामपंथ के एकाधिकार को कोई ख़तरा नहीं था। दरअसल, इन्हें उन्हीं पब्लिक इंटेलेक्चुअल्स और अकादमीशियनों से परेशानी थी जो राजनीति के ग़ैर-वर्चस्वी लोकतांत्रिक रैडिकलाइज़ेशन को मान्यता देते थे (और इनमें से कुछ ने उसका नेतृत्व भी किया)।

सिर्फ़ वाम दलों को ही ग़ैर-दलीय राजनीतिक प्रक्रिया से दिक़्क़त नहीं थी, दूसरे दल भी इसे बहुत आलोचनात्मक नज़रिये से देखते थे। उनकी दिक़्क़तों और आलोचनाओं का कारण काफ़ी स्पष्ट था। तक़रीबन सभी राजनीतिक दलों ने यह माना कि ग़ैर-दलीय राजनीतिक समूह दलीय-राजनीति द्वारा छोड़ी गयी जगह पर ही अपना क़ब्ज़ा जमाएँगे। ग़ैर-दलीय राजनीतिक समूहों ने राजनीति में नये मुद्दे उठाये। इन्होंने राज्य के सामने स्पष्ट माँगें रखीं और इन माँगों पर राजनीतिक रूप से ज़ोर दिया। सभी प्रक्रियाओं का पालन करते हुए इन्होंने अपनी माँगों को अधिकारों में तब्दील करवाया। राजनीतिक दल संस्थाकृत होने के साथ ही इस तरह के आंदोलन की राजनीति छोड़ चुके थे। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चलने वाले आंदोलन से उभरने वाली इस परिघटना के वर्णन और विश्लेषण के लिए कई सैद्धांतिक और अनुभवसिद्ध अनुसंधान किये गये हैं। अस्सी और नब्बे के दशक में इसका विकास और विस्तार ज़मीनी स्तर पर बहुत से छोटे-छोटे आंदोलनों के रूप में हुआ। इन आंदोलनों ने शहरी और ग्रामीण— दोनों ही क्षेत्रों में सामाजिक और आर्थिक रूप से हाशिये पर पड़े समूहों के अधिकारों की राजनीति का मुद्दा उठाया। ज़मीनी स्तर की राजनीति के इस फैलाव ने भारतीय युवाओं को भी राजनीतिक रूप से आकर्षित किया। इसमें विरोध की राजनीति के संदर्भ में तरह-तरह के प्रयोग किये गये। इसमें वैकल्पिक विकास के लिए कार्यक्रम भी तैयार किये गये। आज ग़ैर-दलीय राजनीति के क्षेत्र में होने वाले विभिन्न राजनीतिक पहलों और अभियानों को सिर्फ़ एक विचार में समेट कर नागरिक समाज की संज्ञा दे दी गयी है। इसमें मीडिया की ज़बर्दस्त भूमिका रही है। अण्णा हज़ारे के भ्रष्टाचार विरोधी अभियान के साथ भी यही हुआ है। ऊपर से मीडिया द्वारा इसे व्यक्ति-केंद्रित कर दिया गया : सिविल सोसायटी@जंतर-मंतर! असल में, अभी इस बात की ज़रूरत है कि हम लोकतांत्रिक राजनीति के सैद्धांतिक पहलुओं पर गम्भीरता से विचार करें। साथ ही, हमें नागरिक समाज, आंदोलन और दलों के बीच स्पष्ट अवधारणात्मक अंतर करने पर भी ध्यान देना चाहिए।

**मणींद्र :** आपने मीडिया की बात की। क्या आप हाल के वर्षों में नागरिक समाज के मुद्दे पर हुए अकादमीय लेखन और विवेचनाओं पर भी टिप्पणी करना चाहेंगे?

**धीरूभाई :** भारतीय विद्वानों, ख़ास तौर पर समाजशास्त्रियों और राजनीतिशास्त्रियों ने शीत युद्ध ख़त्म होने के बाद गम्भीरता से इस शब्द का प्रयोग करना शुरू किया। एक तरह से उत्तर-आपातकाल के दौर से ही इसके प्रयोग की शुरुआत हो चुकी थी। समाजशास्त्रियों ने इसका उपयोग भारतीय समाज में लोकतांत्रिक राजनीति के कारण आये बदलाव को समझने के लिए किया। राजनीतिक वैज्ञानिकों ने शायद औपचारिक, संस्थात्मक लोकतंत्र के बारे में ज़्यादा चिंता दिखाने और आंदोलनों की तात्त्विक राजनीति की उपेक्षा करने से पैदा हुए शून्य को भरने के लिए इसका उपयोग किया। दरअसल, इस तरह के आंदोलनों की उपेक्षा के कारण ही राजनीतिक सिद्धांत की राजनीतिक शक्ति या सत्ता संबंधी दृष्टिकोण सिर्फ़ आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य, ख़ास तौर पर इसकी संस्थाओं तक सिमटी रही है। यह ग़ैर-संस्थात्मक रूपों और प्रक्रियाओं को अपने विश्लेषण में शामिल नहीं कर पाया। सत्ता के इन ग़ैर-संस्थात्मक रूपों का उभार ग़ैर-दलीय लोकतांत्रिक राजनीति से हो रहा था, जो (भारतीय) लोकतंत्र के सिद्धांतीकरण के लिए बहुत ही प्रासंगिक था। नतीजा यह हुआ कि राजनीतिक सिद्धांत ने मुख्य तौर से भारत के लोकतांत्रिक राज्य की आधुनिकता पर ध्यान दिया और उसके लोकतांत्रिक चरित्र पर उतनी गहराई से विचार नहीं किया। इसके चलते लोकतांत्रिक सिद्धांत आधुनिकता के सिद्धांत से बुरी तरह उलझ कर रह गया। इस कारण हमें परिप्रेक्ष्य के गहरे नुक़सान का सामना करना पड़ा। चुनावों और राजनीतिक दलों से अलग होकर सामने आने वाली राजनीतिक भागीदारी के विविध रूपों को मान्यता नहीं दी गयी।

इसके कारण भारत में लोकतंत्र और आधुनिकता के बीच एक ख़ास तरह के द्वंद्व की रचना हुई। लोकतांत्रिक सिद्धांत इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता है। इसके अलावा, सिद्धांत ने राजनीतिक सत्ता के ग़ैर (या पूर्व) आधुनिक स्रोतों को आसानी से अपने दायरे में स्वीकार नहीं किया है। दरअसल, ग़ैर-दलीय राजनीति भी ग़ैर (पूर्व) लोकतांत्रिक मानी जाती रही है। बहरहाल, तथ्य यह है कि शक्ति/सत्ता के ग़ैर/पूर्व आधुनिक रूपों का समकालीन रूपों में बदलाव हो गया है। लोकतंत्र की संस्थाओं को नियमित रूप से इनका सामना करना होता है। सत्ता की इस पूर्ववर्ती संरचना में लोकतांत्रिक राजनीति के कारण काफ़ी सुधार और बदलाव हुआ है। लेकिन अब भी यह समकालीन अभिजनों की सत्ता के रूप में मौजूद है। असल में, इस अभिजन सत्ता ने भारतीय आधुनिकीकरण के इंजन के तौर पर काम किया है। लेकिन यह भारत के लोकतंत्रीकरण के लिए बहुत बड़ी चुनौती भी है। यह एक ऐसी ज़बर्दस्त चुनौती है जिसने ख़तरे का रूप धारण कर लिया है। इसका कारण यह है कि ऐतिहासिक रूप से मौजूद सत्ता की अभिजन संरचना ने भारत के उदारतावादी लोकतंत्र की संस्थात्मक सत्ता का निर्माण किया है। लेकिन विडम्बना यह भी है कि वही अभिजन इसके आधुनिकीकरण का अग्रदूत रहा है।

**मणींद्र :** आप भारतीय अकादमीय विमर्श में नागरिक समाज की अवधारणा और परिघटना की वंशावली को किस रूप में देखते हैं ?

**धीरूभाई :** भारत में नागरिक समाज की अवधारणा की बौद्धिक वंशावली की एक धारा राजनीतिक दर्शन में देखी जा सकती है। इसके लिए ध्यान देने की आवश्यकता है कि भारतीय विद्वानों ने मार्क्स, हेगेल और ग्राम्शी का अध्ययन किस रूप में किया, उनकी किस तरह व्याख्या की और उनको नये सिरे से कैसे पढ़ा। इसकी एक दूसरी धारा कुछ ब्रिटिश या उत्तर अमेरिकी विचारकों के लेखन में पायी जा सकती है। इन विचारकों ने लोकोपकार (फिलेंथ्रॉपी), कल्याण, शिक्षा-स्वास्थ्य और आगे चल कर विकास के क्षेत्र में भी सार्वजनिक संगठनों और संस्थाओं के नागरिक कार्यों की भूमिका पर प्रकाश डाला। इस परिघटना ने भारतीय विद्वानों का ध्यान खींचा। ख़ास तौर पर, 1980 के दशक के आख़िर में समाजशास्त्री और राजनीतिक वैज्ञानिक इस ओर आकर्षित हुए। उन्होंने कमोबेश माना कि भारत के सार्वजनिक जीवन के आधुनिक-सेकुलर क्षेत्र में नागरिक समाज का अस्तित्त्व है। इस रूप में इसके उभार का सूत्र औपनिवेशिक आधुनिकता में ढूँढ़ा जा सकता है।

**आज ग़ैर-दलीय राजनीति के क्षेत्र में होने वाले विभिन्न राजनीतिक पहलों और अभियानों को सिर्फ़ एक विचार में समेट कर नागरिक समाज की संज्ञा दे दी गयी है। इसमें मीडिया की ज़बर्दस्त भूमिका रही है। अण्णा हज़ारे के भ्रष्टाचार विरोधी अभियान के साथ भी यही हुआ है।**

औपनिवेशिक शासन को सरकार, ख़ास तौर पर इसके प्रसानिक संयंत्र को, लोगों से जोड़ने की ज़रूरत महसूस हुई। ऐसे में उसने शासक और शासित के बीच कई मध्यवर्ती संगठनों और संस्थाओं की रचना की। इसका एजेंडा यह था कि इस विचार को चर्चा में लाया जाए। इसके द्वारा यह प्रांतों में सामाजिक, आर्थिक और कल्याणकारी गतिविधियों की पहल का समर्थन करना चाहता था। वह चाहता था कि इस पूरी प्रक्रिया द्वारा भारतीय जनता के बीच (आधुनिक) औपनिवेशिक शासन के लिए एक सीमा तक राजनीतिक समर्थन क़ायम रहे। इसमें शिक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण के क्षेत्र में कई सहकारी समितियों, सार्वजनिक ट्रस्टों और स्वैच्छिक सामाजिक संगठनों का निर्माण भी शामिल था। स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में जिला विकास बोर्ड जैसे बहुत से जिला स्तरीय संगठनों का निर्माण किया

गया। औपनिवेशिक प्रशासन ने इन क्षेत्रों के 'जाने-माने' और 'सम्मानित' लोगों को इसका सदस्य बनाया। अभी मेरे दिमाग़ में उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी की शुरुआत के भारत की तस्वीर है। इस दौर में औपनिवेशिक शासन ने अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार किया और पारम्परिक सामाजिक अभिजनों से मिलकर इन नीतियों पर अमल किया। इससे 'कोलोनियल पब्लिक' के बारे में जागरूकता बढ़ी। समाज सुधारकों के एजेंडे में भी मध्यवर्ती निकायों के निर्माण और उसमें भागीदारी की बात शामिल थी। मसलन, गुजरात में नर्मदाशंकर दवे (नर्मद) एक प्रभावशाली समाज-सुधारक थे। इन्हें आधुनिक गुजराती साहित्य का संस्थापक भी माना जाता है। इन्होंने *मंडली बनवाना फायदा* (संगठन बनाने के फ़ायदे) शीर्षक से एक छोटा और रोचक निबंध लिखा था। इसमें उन्होंने संगठन बनाने के बहुत से लाभों पर प्रकाश डाला था। इस तरह, जहाँ औपनिवेशिक राज्य ने संगठन बनाने को नीतिगत क़दम के रूप में अपनाया, वहीं समाज सुधारकों ने भी विभिन्न क्षेत्रों में संगठनों को बढ़ावा दिया।

मुख्य बात यह है कि नागरिक समाज और राज्य का संबंध समझने के लिए औपनिवेशिक आधुनिकता बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अब ऐसा नहीं हो सकता है कि कोई नागरिक समाज की बात करे और राज्य का उल्लेख न करे। नागरिक समाज ने तुलनात्मक रूप से स्वायत्त होकर और लोगों के आम हित में काम किया। लेकिन फिर भी यह राज्य की उपच्छाया की तरह सामने आया। समाज वैज्ञानिकों ने इसे आधुनिक राज्य के दायरे के भीतर अवस्थित किया। उन्होंने इस पर विशिष्ट रूप से सेकुलर संदर्भ में विचार करना शुरू किया। यह माना गया कि जाति और धार्मिक संगठन इसके दायरे से बाहर स्थित हैं। इसलिए इसे सार्वजनिक संगठनों की अर्ध-राजनीतिक (पैरा-पॉलिटिकल) संरचना के रूप में देखा गया, जो राज्य से जुड़ी हुई थी। संक्षेप में, वे यह मानते थे कि नागरिक समाज प्राथमिक रूप से भारत के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के आधुनिक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है। इस रूप में यह लोकतंत्र का एक आयाम बना।

आधुनिकता और लोकतंत्र के सिद्धांत एक-दूसरे से नज़दीकी रूप से जुड़े हुए हैं। इस सीमा तक कि एक में होने वाला बदलाव दूसरे को भी प्रभावित करता है, अर्थात लोकतंत्र का दायरा आधुनिकता से पूरी तरह मिलता-जुलता लगता है। आज की दुनिया में पॉलिटिकल पब्लिक की क़िस्मों में ज़बर्दस्त बढ़ोतरी हुई है। ख़ास तौर पर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के लोकतंत्रों में ऐसा हुआ है। इन लोकतंत्रों में नागरिक समाज राज्य के मुक़ाबले आ गया है। इसका राज्य के साथ टकराव और सहयोग का एक गत्यात्मक संबंध है। नागरिक समाज के मंथन में दीर्घकालिक आधुनिकतावादी प्रोजेक्ट की पड़ताल की जा रही है। इस प्रोजेक्ट का लक्ष्य एक ऐसे लोकतांत्रिक शासन की स्थापना करना था, जिसके नागरिक अपने अतीत की पहचानों से कटे हों। नागरिक समाज की राजनीति के कारण राज्य-समाज संबंधों के बारे में एक सरल, 'ब्लैक एंड व्हाइट' नज़रिया बनाना भी मुश्किल है। अर्थात एक ऐसा दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता जिसके अनुसार सिर्फ़ राज्य द्वारा बनाये गये पूरी तरह से सेकुलर स्पेस में ही नागरिक समाज का अस्तित्व हो सकता है; मानो नागरिक से परे कोई दूसरा समाज नहीं होता।

इस हक़ीक़त से इनकार नहीं किया जा सकता कि जातिगत और धार्मिक संगठनों ने अपने सदस्यों के लिए बहुत से सेकुलर काम किये हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य और सामान्य कल्याण के क्षेत्र में काफ़ी काम किया गया है। ये संगठन इस तरह की गतिविधियों के दौरान राजनीतिक प्रभावों से अछूते नहीं रहे। उन्होंने कभी भी अपनी गतिविधियों को कर्मकांडीय संविधियों और अपने सदस्यों की पवित्र भूमिकाओं तक ही सीमित नहीं किया। इस बात को याद रखने की ज़रूरत है कि आधुनिकता से पहले के ज़मानों में भी सामाजिक और धार्मिक केंद्रों (मंदिरों) में सामाजिक और राजनीतिक कार्य किये जाते थे। ज़ाहिर है कि नागरिक स्पेसों (सिविल स्पेस) की अवधारणा तैयार करने और नागरिक समाज की सीमा रेखा तय करने का काम अभी बाक़ी है।

अब एक ज़्यादा तात्कालिक सवाल पर ध्यान देने की आवश्यकता है। आज हम भारत में जो ज़बर्दस्त राजनीतिक ऊर्जा देख रहे हैं उसका प्राथमिक स्रोत क्या है : लोकतंत्र या आधुनिकता? यदि हम सैद्धांतिक और फेनोमेनोलॉजिकल रूप से लोकतंत्र को आधुनिकता से अलग करना चाहते हैं, तो इस महत्त्वपूर्ण सवाल का जवाब देना ज़रूरी है। इससे हमें नागरिक समाज को तथाकथित विशिष्ट और निष्क्रिय मध्य वर्ग (अभिजन) के प्रभाव और नेटवर्क की राजनीति के बजाय वर्तमान में ज़ारी अर्ध-संस्थात्मक लोकतांत्रिक राजनीति में अवस्थित करने में भी मदद मिलेगी। नागरिक समाज की राजनीति किसी भूमिगत दल की राजनीति नहीं है। यह 'फ़ेवर बैंक' की अनौपचारिक (ग़ैर-संस्थात्मक) राजनीति भी नहीं है। 'फ़ेवर बैंक' में किसी व्यक्ति द्वारा अनधिकारिक आर्थिक उद्देश्य पूरा करने के लिए अपनी अधिकारिक शक्ति के प्रयोग के दौरान दिये गये या लिए गये 'फेवर' (या अनुचित मदद) के आधार पर लोगों के एकाउंट रखे जाते हैं। मैं उस लेखक का नाम भूल रहा हूँ जिसने सबसे पहले 'फ़ेवर बैंक' शब्द का इस्तेमाल किया था। लेकिन मैं इस शब्द को अनौपचारिक अभिजन राजनीति का वर्णन करने के लिए बहुत ही उपयोगी मानता हूँ, जहाँ नौकरशाह, राजनीतिज्ञ और बिज़नेसमैन अंदरूनी तौर पर एक-दूसरे की मदद (फ़ेवर) करते हैं। इससे इन सबको फ़ायदा होता है। इस तरह की 'म्युचुअल फ़ेवर सोसाइटी' (पारस्परिक मददकारी समाज) में वास्तविक अर्थों में नागरिक सार्वजनिक पहचान नहीं होती। इसे किसी भी अर्थ में नागरिक समाज नहीं माना जा सकता। मैं नागरिक समाज को एक तीसरे तरह की राजनीति के रूप में देखना चाहता हूँ। यह वोट-बैंक राजनीति और 'फ़ेवर बैंक' राजनीति के बीच स्थान बनाता है और उसका विस्तार करता है। हमें सत्ता के गलियारे में होने वाले आंतरिक षड्यंत्रों और सौदेबाज़ियों के लिए कोई दूसरा नाम खोजना होगा। निश्चित रूप से (काम होने के लिए या काम होने की उम्मीद में) बड़े-बड़े 'तोहफ़ों' के आदान-प्रदान का यह नेटवर्क जब बहुत गहरा और व्यापक हो जाता है, तो यह 'पब्लिक' (या लोगों) की नज़र में आ जाता है। ऐसे में, इसे इसके वास्तविक रूप यानी 'क्रोनी कैपिटलिज़म' के रूप में देखा जाता है। दूसरे संदर्भ में हमने यह देखा है कि नौकरशाह, बड़े बिज़नेसमैन और राजनीतिक नेता आर्थिक और दलीय फ़ायदे के लिए समाजवाद के झंडे के तले एक हो गये थे। लेकिन फिर भी इसे 'क्रोनी सोशलिज़म' का लक़ब नहीं दिया गया।

> **राजनीतिक सिद्धांत ने भारत के लोकतांत्रिक राज्य की आधुनिकता पर ध्यान दिया और उसके लोकतांत्रिक चरित्र पर उतनी गहराई से विचार नहीं किया। लोकतांत्रिक सिद्धांत आधुनिकता के सिद्धांत से बुरी तरह उलझ कर रह गया। इससे हमें परिप्रेक्ष्य के गहरे नुक़सान का सामना करना पड़ा।**

दरअसल, यह नागरिक समाज को समझने का एक तरीक़ा है, जो मुख्य रूप से अकादमीय और विचारधारात्मक विमर्श में सामने आया है। इसकी वास्तविक राजनीति एक अलग कहानी है— यह विकासशील, खुला और बहुआयामी है। आंशिक रूप से यह कहानी हाशिये पर पड़े लोगों द्वारा गरिमामय ज़िंदगी के अधिकार के लिए किये जाने वाले संघर्ष और आंदोलनों से जुड़ी है। इस प्रक्रिया में यह राज्य की संस्थात्मक संरचना का लोकतंत्रीकरण करती है। संविधान लोकतांत्रिक राजनीति के इस आयाम को मान्यता देता है। लेकिन यह सिर्फ़ सामान्य अर्थ में ही ऐसा करता है, अर्थात यह इसे व्यक्तियों और समूहों के राजनीतिक अधिकारों के रूप में ही मान्यता देता है। कई बार राज्य द्वारा नागरिकों के अधिकारों का अतिक्रमण किया जाता है या फिर कार्यपालिका की शक्तिशाली संस्थाओं या संसद द्वारा इसकी उपेक्षा की जाती है (आपातकाल के दौरान हमने इसी स्थिति का सामना किया है)। कई मरतबा ग़ैर-राज्य सत्ता-केंद्रों द्वारा भी नियमित रूप से समाज में साधारण नागरिकों के

अधिकारों की उपेक्षा हो सकती है। नागरिकों के इन अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए नियमित रूप से काम करने वाले आंदोलनों को अब भी क़ानूनी और राजनीतिक रूप से अपनी राजनीतिक वैधता स्थापित करनी है। संविधान में तकनीकी रूप से दिये गये अधिकारों को वास्तव में हासिल करने के लिए बहुत से दूसरे संवैधानिक तौर-तरीक़ों और प्रावधानों की आवश्यकता है। लेकिन अभी तक इन्हें तात्त्विक रूप से हासिल नहीं किया जा सका है। इन्हें नागरिक समाज की मुख्यधारा की राजनीति में शामिल करने की सम्भावना नहीं है। ग़ैर-दलीय राजनीति के आंदोलनों में यह सम्भावना निहित है।

आज लोकतंत्र के युग में भी विरोध की राजनीति को पुराने औपनिवेशिक क़ानूनों द्वारा नियंत्रित किया जाता है। ये औपनिवेशिक क़ानून मोटे तौर पर भारतीय दंड संहिता में निहित हैं। इसमें किसी सभा को ग़ैरक़ानूनी घोषित करने वाले क़ानून भी शामिल हैं। दरअसल, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ग़ैर-दलीय समूहों और लोकतंत्रों ने भारतीय लोकतंत्र को गहनता और गतिशीलता प्रदान की है। राजनीति को राजनीतिक और सैद्धांतिक वाद-विवादों के केंद्र में लाने की ज़रूरत है। ऐसा होने पर ही नागरिक समाज की अवधारणा को सही तरह से समझा जा सकता है। फ़िलहाल तो इसकी स्थिति अमीबा जैसी आकारहीन है। उम्मीद की जा सकती है कि ऐसा होने पर यह सिद्धांत को ग़ैर-दलीय राजनीति की दुनिया से जोड़ेगा। अभी तक इस पहलू पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है।

> **आज हम भारत में जो ज़बर्दस्त राजनीतिक ऊर्जा देख रहे हैं उसका प्राथमिक स्रोत क्या है: लोकतंत्र या आधुनिकता? यदि हम सैद्धांतिक और फेनोमेनोलॉजिकल रूप से लोकतंत्र को आधुनिकता से अलग करना चाहते हैं, तो इस महत्त्वपूर्ण सवाल का जवाब देना ज़रूरी है।**

**मणींद्र :** हम नागरिक समाज को अपने सामाजिक और राजनीतिक अनुभवों से कैसे जोड़ सकते हैं, ख़ास तौर पर उन ग़ैर-दलीय आंदोलनों को जिनके बारे में आपने पहले बात की है?

**धीरूभाई :** बुनियादी सवाल यह है कि शासितों को किस तरह गवर्नेंस में ज़्यादा-से-ज़्यादा प्रतिनिधित्व मिल सकता है और शासन तक उनकी आवाज़ प्रभावकारी तरीक़े से कैसे पहुँच सकती है? प्रतिनिधित्व की अवधारणा पर ज़्यादा गहराई से सैद्धांतिक और दार्शनिक विचार करने की आवश्यकता है। अब चुनावी राजनीति लोकतंत्र की बुनियादी विशेषता बन चुकी है। चुनाव वैधता का सबसे मुख्य स्रोत है। ऐसे में, चुने गये राजनीतिक नेता 'ग़ैर-दलीय' सार्वजनिक नेताओं द्वारा निभायी जाने वाली भूमिका को न तो समझ रहे हैं और न ही वे उसे मान्यता देना चाहते हैं। वे यह नहीं समझ पा रहे हैं कि यह एक अलग तरह की किंतु महत्त्वपूर्ण रूप से लोकतांत्रिक राजनीति है जिसके ज़रिये राजनीति में लोगों को बेहतर प्रतिनिधित्व मिलता है। दरअसल, चुनाव में भागीदारी के बिना उभरे नेताओं द्वारा प्रतिनिधित्व के दावे के संबंध में राजनीतिक दलों के बीच एक संदेह और डर बैठा हुआ है। शायद इसी कारण दलों से जुड़े और मीडिया में सक्रिय कुछ नेताओं ने अण्णा हज़ारे के आंदोलन को भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए ख़तरा क़रार दिया है।

इसलिए हमारे पास ऐसे विद्वान और राजनीतिक टीकाकार हैं जो अब भी पारम्परिक पश्चिमी अर्थ में नागरिक समाज शब्द का उपयोग करते हैं। वे यह पसंद नहीं करते कि इस अवधारणा का विस्तार करते हुए इसमें प्रतिरोध के आंदोलन भी शामिल किये जायें। दरअसल, यह बुनियादी रूप से राजनीति के प्रति उनका डर है। जब विरोध के आंदोलन सीधी कार्रवाई का रूप धारण कर लेते हैं तो यह डर एक गहरे आतंक में तब्दील हो जाता है। इसका सामना करने के लिए हमारे पास कोई

बना-बनाया ज़रिया नहीं है। हमारे चिंतन में भी इस बारे में पर्याप्त (सैद्धांतिक) स्पष्टता नहीं है कि उस स्थिति में क्या हो सकता है जब लोकतांत्रिक रूप से (चुनावी राजनीति द्वारा) और संविधान द्वारा राजनीतिक सत्ता पाने वाले लोग कार्यपालिका के नाम पर 'ग़ैरक़ानूनी' तरीक़े से काम करने लगें। ऐसा हो सकता है कि वे व्यवस्थित रूप से सरकार की शक्तियों पर अपना एकाधिकार जमाते जायें। यह स्थिति तब और ज़्यादा बुरी हो जाती है जब इस सत्ता का प्रयोग एक ऐसे परिवार या वंश द्वारा किया जाता है, जिसका सरकार बनाने वाले दल में प्रभुत्व होता है या जो सरकार बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। इसलिए सिद्धांतकारों और लोकतांत्रिक राजनीति का व्यवहार करने वाले लोगों की सबसे पहली प्राथमिकता यह होनी चाहिए वे संस्थाओं की गिरावट रोकें। मुद्दा यह है कि इस तरह की स्थिति में लोगों के पास किस तरह के राजनीतिक साधन मौजूद हैं। दरअसल, इसी संदर्भ में सीधी राजनीतिक कार्रवाई का विचार प्रासंगिक हो जाता है। इस पर गम्भीर सैद्धांतिक विचार करने की ज़रूरत है। ग़ैर-चुनावी सत्ता कई मरतबा ग़ैर-लोकतांत्रिक पॉपुलिस्ट (लोकलुभावनवादी) रूप में सामने आ सकती है। कुल मिलाकर व्यावहारिक चुनौती यह है कि किस तरह इसे लोकतांत्रिक अंतर्वस्तु से जोड़ा जाये। इसलिए यह बहुत ही ज़रूरी है कि लोकतांत्रिक राजनीति के व्यवहार के नये रूप और साधन तैयार किये जायें। इसके सिद्धांतों और कार्यों की (विविध सामाजिक-सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भों में) तुलनात्मक सैद्धांतिक समझ विकसित करना भी ज़रूरी है। संस्थाओं का क्षरण रोकने के लिए कम-से-कम यह तो करना ज़रूरी है ही। इससे दीर्घकालिक रूप से प्रतिनिधित्व और भागीदारी के एक व्यापक और वैकल्पिक तरीक़े का विकास किया जा सकता है।

**हमारे पास ऐसे विद्वान और राजनीतिक टीकाकार हैं जो अब भी पारम्परिक पश्चिमी अर्थ में नागरिक समाज शब्द का उपयोग करते हैं। वे यह पसंद नहीं करते कि इस अवधारणा का विस्तार करते हुए इसमें प्रतिरोध के आंदोलन भी शामिल किये जायें।**

**मणींद्र :** क्या आप यह मानते हैं कि इतिहास ने नागरिक समाज में जितनी प्रवृत्तियाँ समाहित की हैं, वे सभी हमें उपलब्ध हैं?

**धीरूभाई :** मुझे लगता है कि एक अर्थ में ऐसा है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कोई भी लोकतांत्रिक राज्य अपने संगठनों और संस्थाओं तक सीमित नहीं रह सकता है। इसे एक नागरिक समाज की ज़रूरत होती है, ताकि ऐसी राजनीतिक कार्रवाई, जो अमूमन ग़ैरक़ानूनी और हिंसक हो सकती है, उसे लोकतांत्रिक विरोध और संवाद की रूपरेखा में लाया जाये। यही कारण है कि औपनिवेशिक समय से ही राज्य को विरोध और सहयोग के ऐसे संगठित रूपों की तलाश रही है जिसका वह सामना कर सके। राज्य ने ऐसे संगठित रूपों को बढ़ावा भी दिया है। इसलिए हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि इसने विकासात्मक योजनाएँ लागू करने में ग़ैर-सरकारी और स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका को मान्यता दी है। उसने योजना प्रक्रिया में उनके सुझावों का महत्त्व भी स्वीकार किया है। दरअसल, सोनिया गाँधी के नेतृत्व में बनी राष्ट्रीय सलाहकार परिषद (नेशनल एडवाइज़री कमिटी) इसी प्रक्रिया का नतीजा है। राजनीति में बाज़ार की व्यापक मौजूदगी के कारण एक नया शब्द यानी 'पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप' (सार्वजनिक-निजी सहयोग) भी प्रचलन में आया है। यह भी सच है कि जहाँ राज्य पहुँचने में समर्थ नहीं है, वहाँ नागरिक समाज एक भूमिका निभा रहा है। और जहाँ दोनों ही मौजूद नहीं हैं, वहाँ नक्सलियों का दबदबा है। हम देख सकते हैं कि जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व वाले आपातकाल विरोधी आंदोलन के बाद नागरिक समाज की भूमिका में बहुत ज़्यादा बदलाव हुआ है। अधिकांश समकालीन प्रगतिशील क़ानूनों की शुरुआत नागरिक समाज से हुई और फिर सरकार ने उसे आगे बढ़ाया। सूचना का अधिकार, शिक्षा का अधिकार आदि जैसे क़ानूनों से यह

बात स्पष्ट रूप से सामने आती है।

**मणींद्र :** क्या गाँवों के लोग और उनके संगठन भी नागरिक समाज के भाग हैं या यह सिर्फ़ शहरी मध्य वर्ग तक ही सीमित है? क्या नागरिक समाज राज्य के ख़िलाफ़ काम करता है?

**धीरूभाई :** नागरिक समाज के क्षेत्र में ग्रामीण स्पेस को शहरी स्पेस की निरंतरता में ही देखा जा सकता है। ऐसा नहीं लगता है कि गाँवों के लिए इसमें विशेष रूप से कोई स्पेस है। नागरिक समाज पूरे भारत में छोटे (माइक्रो) राजनीतिक आंदोलनों के रूप में फैला हुआ है, जिसे एनजीओ या दूसरे विविध नामों से जाना जाता है। नागरिक समाज का राज्य-लोकतंत्र से एक द्वंद्वात्मक संबंध है। यह ज़रूरी नहीं है कि यह हमेशा इसके ख़िलाफ़ हो। यहाँ हम एक लोकतांत्रिक राज्य के बारे में बात कर रहे हैं। मार्क्स, हिगेल और ग्राम्शी की परम्परा में नागरिक समाज बुर्जुआ राज्य का भाग है। नागरिक समाज की समीक्षा करते हुए पार्थ चटर्जी भी इससे बहुत अलग बात नहीं कहते। उनका योगदान यह है कि उन्होंने 'राजनीतिक समाज' की अवधारणा तैयार की है। इस तरह उन्होंने लोकतांत्रिक राजनीति के एक आयाम को मान्यता दी है, जिसे नागरिक समाज के नाम पर ख़ारिज किये जाने की ज़रूरत नहीं है। वे उदारतावादी लोकतंत्र पर नियमित रूप से हो रहे मार्क्सवादी सैद्धांतिक हमले से उसके एक आयाम को बचाते हैं।

## II

# अर्थात सामाजिक के राजनीतिक में न बदल पाने का संकट

**कमल नयन चौबे (कमल) :** नब्बे के दशक के आख़िर में किये गये एक सिद्धांतीकरण में आपने राजनीतिक संकट और राजनीतिक समस्या में अंतर बताते हुए कहा था कि हम लोग समस्याओं को संकट कहने लगते हैं, जबकि संकट तब तक नहीं आता जब तक राजनीतिक प्रणाली में गहरी समस्याएँ और विच्छिन्नताएँ पैदा नहीं होतीं। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि इस समय भारतीय लोकतंत्र और राज्य इसी तरह के दौर से गुज़र रहा है? मुझे तो यह संकट लग रहा है। आप इसकी किस तरह व्याख्या करेंगे?

**धीरूभाई :** एक लिहाज़ से देखा जाए तो संकट बराबर बना रहा है— उस समय से लेकर आज तक। लेकिन अब जो है उसे स्पष्ट रूप से एक प्रणालीगत संकट कहा जा सकता है। उस वक़्त जो मेरा तर्क था वह सामान्य क़िस्म का था। मैंने कहा था कि जब समाज में तब्दीलियाँ आ रही हों और एक तरह की राजनीति बन रही हो, फिर भी इनके बीच कोई संवाद न हो और वे अलग-अलग आधार पर गतिशील रहें, तो एक संकट बनता है। यह स्थिति अगर लगातार चलती रहे तो यह संकट गहरा जाता है। यह मेडिकल क्राइसिस की तरह नहीं है कि तुरंत मरीज़ मर गया। लेकिन मेरे हिसाब से संकट बराबर बना रहा है। बीच-बीच में कई समस्याएँ सुलझायी जाती रही हैं, इसलिए संकट दिख नहीं रहा था। चूँकि संकट प्रणालीगत था, इसलिए कई चीज़ें होती रहीं। मसलन, बाज़ार आया, वैश्वीकरण हुआ, उदारीकरण हुआ। अर्थव्यवस्था थोड़ी बेहतर होने लगी तो लगा कि संकट नहीं रह गया है। लेकिन ऐसा नहीं था। संकट लगातार बना रहा। आज उसी समय का संकट ज़्यादा साफ़ तौर पर

सामने आ रहा है। अब यह सवाल भी उभरने लगा है कि कौन-सी प्रणाली फ़ेल हो रही है। जब एक सिस्टम फ़ेल होता है, तो बहुस्तरीय संकट के कारण दूसरी प्रणालियाँ भी नाकाम होने लगती हैं। मेरा यह मानना है कि दलीय प्रणाली नाक़ाम हो चुकी है। चुनाव वग़ैरह सब उसके इर्द-गिर्द हैं। और, यह दलीय प्रणाली इतनी ज़्यादा नाक़ाम हो गयी है कि जो मैंने पहले कहा था वह बात अब बहुत साफ़ तौर पर सामने आ गयी है। जब तक इसका सिस्टेमिक सोल्यूशन या प्रणालीगत हल नहीं होगा, तब तक यह ठीक नहीं होगी। हम जैसे लोग जो इन परिस्थितियों का अवलोकन, अनुशीलन या आलोचना करते हैं, वे भी इसका शिकार हो गये हैं। वे भी इसी से निकलने वाली शब्दावली में बात कर रहे हैं।

जब हम अपनी दलीय व्यवस्था की चर्चा करते हैं तो अवधारणात्मक रूप से या कॉन्सेप्चुअली बात करते हैं। जब हम कॉन्सेप्चुअली बात करते हैं तो इसे एक आइडियल या आदर्श रूप में ही देखते हैं। हम अक्सर कहते हैं कि पार्टी की एक ख़ास भूमिका होनी चाहिए। लेकिन उसे सिविल सोसाइटी या नागरिक समाज वाले नहीं निभाने देते हैं। ऐसा कहते वक़्त हमारे दिमाग़ में यही होता है कि दलों की क्या भूमिका होनी चाहिए। हमारा ध्यान इस ओर नहीं जाता है कि दलों को क्या हो गया है। हमारे सोच में जो पार्टी है, उसी की बात होती रहती है। जो पार्टी हक़ीक़त में है, हम उस पर ध्यान नहीं देते। दल या पार्टी समाज में हितों के बीच समन्वय करने या मध्यस्थता करने की भूमिका निभाते हैं। समाज में अलग-अलग समूहों के अलग-अलग हित होते हैं। दल उसमें मध्यस्थ की भूमिका निभा कर एक ज़रूरत या आवश्यकता की रचना करता है। पार्टियाँ इन मुद्दों को गवर्नेंस में ले जाती हैं और गवर्नेंस में इन ज़रूरतों या मुद्दों पर ध्यान दिया जाता है। लोकतंत्र में, और यहाँ मैं उदारतावादी लोकतंत्र की बात कर रहा हूँ, दलों की यह मध्यस्थ भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। लेकिन, हमारे यहाँ पार्टी सीधे तौर पर सोसायटी (या समाज) बन गयी है। मध्यस्थ की भूमिका निभाने वाले इसके औज़ार भोथरे या प्रभावहीन हो गये हैं।

> **मेरे हिसाब से संकट बराबर बना रहा है। बीच-बीच में कई समस्याएँ सुलझती रही हैं, इसलिए संकट दिख नहीं रहा था। इसलिए कई चीज़ें होती रहीं। मसलन, बाज़ार आया, वैश्वीकरण हुआ, उदारीकरण हुआ। अर्थव्यवस्था थोड़ी बेहतर होने लगी तो लगा कि संकट नहीं रह गया है।**

**कमल :** अपनी इस बात को थोड़ा उदाहरण देकर समझाएँ कि दल जो पहले मध्यवर्ती-संरचना की भूमिका निभाता था, वह अब ख़ुद ही समाज (या सोसायटी) कैसे बन गया है?

**धीरूभाई :** इसके लिए हम उस दौर की कांग्रेस पार्टी के उदाहरण पर विचार कर सकते हैं जिसे रजनी कोठारी ने 'कांग्रेस प्रणाली' के नाम से परिभाषित किया था। आज़ादी के तुरंत बाद हमारा जो समाज था, उसमें समुदायों के हित थे, जातियों के हित थे, क्षेत्रों के हित थे। पार्टी इन हितों को नकारती नहीं थी, बल्कि उसने इसे जोड़ने का काम किया। इसमें से वह 'माँग' तैयार करती थी। इससे यह राजनीतिक बन जाता था। मतलब पार्टी सामाजिक को राजनीतिक में बदलने के लिए ऐसी प्रक्रियाओं को अपनाती थी, जिससे विभिन्न समूहों की आवश्यकताएँ और हित परा-सामाजिक और राजनीतिक बन जाते थे। सामाजिक से राजनीतिक बनने की जो यह प्रक्रिया थी, वह पार्टी का एकमात्र काम नहीं था। लेकिन यह उसका एक महत्त्वपूर्ण काम ज़रूर था। इस प्रक्रिया से रिप्रज़ेंटेशनल सिस्टम या प्रातिनिधिक प्रणाली में सोसाइटी का प्रवेश होता है। मतभेद, असहमतियों और आवश्यकताओं आदि को व्यवस्था में प्रवेश मिलता है। दल इन चीज़ों को आगे ले जाता है। इसमें एक जद्दोजहद भी रहती है। इसी कारण एक दल से काम नहीं चलता है और अलग-अलग दल सामने आते हैं। यदि ऐसा नहीं

होता तो यह एक तरह से तानाशाही क़िस्म की स्थिति हो जाती कि एक ही दल में सारे विरोधाभास समा रहे हैं। उदारतावादी लोकतंत्र में तो बहुदलीय प्रणाली होनी ही है।

मुश्किल यह है कि सामाजिक से राजनीतिक में बदलाव या ट्रांसम्युटेशन अब सामाजिक ज़्यादा रह गया है। यादवों के हित को सामने लाने के लिए यादव की पार्टी है, दलितों के हित को आगे ले जाने के लिए दलित की पार्टी है। मोटे तौर पर ऐसी स्थिति बहुत ज़्यादा बढ़ती जा रही है। फिर राजनीतिक दलों की आंतरिक संरचना भी काफ़ी ख़राब है। मुझे तो अब ऐसे दलों को दल कहने में भी झिझक होती है। दलों पर वंशवाद और परिवारवाद हावी हो चुका है। अधिकांश दलों की यही स्थिति है। जिन दलों की ऐसी स्थिति नहीं है, मसलन भाजपा, वहाँ धर्म हावी है; सीपीआई और सीपीएम जैसी संरचनाओं में पार्टी का प्रच्छन्न स्वरूप रहता है। मसलन, आप बंगाल में सीपीएम की सोशल डेमोग्राफी ले लीजिए। तो आप पाएँगे कि कुल छह-सात सौ लोगों के पीछे सब कुछ सिमटा हुआ है। उसमें मोटे तौर पर ब्राह्मण, कायस्थ, ऊपरी जातियों के लोग, भद्रलोक हावी हैं। इसे नकारने के कारण ही इसके ख़िलाफ़ दावा करने वाली ताक़तें सामने आयीं। लेकिन ये ताक़तें हितों को बदलने या उनमें समन्वय करने के बजाय सीधे तौर पर सामाजिक हितों की प्रतिनिधि बन गयीं। दक्षिण भारत के राजनीति दलों में आप यह बात ज़्यादा स्पष्टता से देख सकते हैं। वहाँ चार-पाँच उप-जातियों की पार्टियाँ भी बन गयी हैं। जब मैं 'डायरेक्ट सोशल' (या सीधे तौर पर सामाजिक) कहता हूँ तो यह एक 'ओवर स्टेटमेंट' है। लेकिन तथ्य यह है कि सामाजिक से राजनीतिक में बदलाव में एक बड़ी विच्छिन्नता आयी है। यह संकट का एक बड़ा स्रोत है।

> यादवों के हित को सामने लाने के लिए यादव की पार्टी है, दलितों के हित को आगे ले जाने के लिए दलित की पार्टी है। ऐसी स्थिति बहुत ज़्यादा बढ़ती जा रही है। फिर राजनीतिक दलों की आंतरिक संरचना भी काफ़ी ख़राब है। मुझे तो अब ऐसे दलों को दल कहने में भी झिझक होती है।

**कमल :** आपका यह कहना सही है कि पहले काफ़ी सफल तरीक़े से सामाजिक का राजनीतिक में बदलाव (ट्रांसम्यूटेशन) होता था। लेकिन क्या ऐसा नहीं है कि उस समय सिर्फ़ दिखावे के लिए ही (प्रॉक्सी) प्रतिनिधित्व था। समाज का एक बड़ा तबका असल में उस प्रतिनिधित्व से दूर था।

**धीरूभाई :** हाँ, मैंने इसके बारे में लिखा है। यह एक 'प्रॉक्सी' था। लेकिन यह एक दूसरे सामाजिक समूह का 'प्रॉक्सी' था। लोकतंत्र में दिखावे और आडम्बर की एक बड़ी जबर्दस्त भूमिका होती है। जो लोग 'प्रॉक्सी' प्रतिनिधित्व दे रहे थे, असल में वे ऊँची जाति के अंग्रेज़ी शिक्षित लोगों के सामाजिक समूह की ही देन थे। लेकिन एक बड़ा फ़र्क़ भी था। कांग्रेस पार्टी में भी बदलाव की कुछ इच्छा थी और आधुनिक उदारतावादी मूल्यों के प्रति भी कुछ वचनबद्धता थी। यह सच है कि इन लोगों ने अपने जाति और वर्ग के हितों की राजनीति की, और इस दौर में प्रतिनिधित्व भी 'प्रॉक्सी' ही रहा। लेकिन, कुछ अन्य बातें भी हुईं। मसलन, इस समय के नेताओं या लोगों ने कुछ नये क़ानून या राजनीतिक एजेंडा पेश किया। इनमें पूरी तरह से समतावादी या लोकतांत्रिक मूल्य नहीं थे, लेकिन वे राष्ट्रवादी ज़रूर थे। लोकतंत्र और लोकतांत्रिक मूल्यों के कारण कम-से-कम एक निश्चित सीमा तक सामाजिक का राजनीतिक में बदलाव हुआ। इसी कारण, आरक्षण और हिंदू कोड बिल जैसे क़ानून सामने आ पाये।

हमें यह भी सोचना चाहिए कि इस प्रणालीगत संकट से कैसे उबरा जाए। भारत में राजनीतिक दलों को स्पष्ट संवैधानिक मान्यता नहीं दी गयी है। उन्हें सिर्फ़ अपरोक्ष रूप से ही मान्यता मिली हुई

है। हम ब्रिटिश संवैधानिक परम्पराओं पर बहुत ज़्यादा निर्भर रहे हैं। हमारे संविधान निर्माताओं ने शायद यह माना कि हमारे राजनीतिक दल वहाँ के राजनीतिक दलों की तरह ही व्यवहार करेंगे। शायद इसीलिए इस बात का कोई स्पष्ट संवैधानिक प्रावधान नहीं किया गया कि राजनीतिक दलों का संगठन किस तरह होना चाहिए। दल प्रतिनिधित्व करते हैं, प्रतिनिधित्व को कैसे सुनिश्चित किया जा सकता है, दलों का निर्माण किस तरह होना चाहिए, इसे लोकतांत्रिक होना चाहिए या नहीं— इन सभी बातों को सामान्य लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के भरोसे छोड़ दिया गया। यह उम्मीद की गयी कि दलीय प्रणाली का स्वाभाविक रूप से विकास होता चला जाएगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। हमें इस प्रणालीगत संकट का प्रणालीगत हल ढूँढ़ना है। हमें इस बात पर विचार करने की ज़रूरत है कि दलीय प्रणाली को किस तरह पुनर्गठित किया जाये और किस तरह इसे लोकतांत्रिक व्यवस्था के नज़दीक लाया जाये। मेरा यह मानना है कि दल सबसे मुख्य चीज़ है। लेकिन हम यह भूल गये कि ब्रिटिश व्यवस्था में राजनीतिक दलों की यह भूमिका नहीं है। हमारा संविधान भी यही कहता है। इसमें कहा गया है कि बहुमत का शासन होना चाहिए। यह बात सिर्फ़ अप्रत्यक्ष रूप से ही सामने आती है कि बहुमत हासिल करने वाला दल या दलों का समूह शासन करेगा। संविधान सांसदों के बहुमत को मान्यता देता है। मुख्य बात यह है कि दलों को इसलिए महत्त्वपूर्ण भूमिका मिल गयी क्योंकि सभी राजनीतिक दलों का उभार राजनीतिक-सामाजिक आंदोलनों के रूप में हुआ। कांग्रेस का उभार आज़ादी के आंदोलन से हुआ। वामपंथी दल भी इसी तरह सामने आये। भाजपा हिंदुत्व आंदोलन के कारण सामने आयी। इसी तरह, अन्य राजनीतिक दलों का उभार भी पिछड़ी जाति या दलित आंदोलन आदि के कारण हुआ।

**कमल :** धीरूभाई, मैं आपकी इस बात से सहमत हूँ कि हम लोगों की दलीय प्रणाली संकट में है। लेकिन साठ के दशक में भी यह बहुत बड़ा संकट था, जिसकी वजह से सैलिग हैरिसन ने उसे 'डेंजरस डिकेड' की संज्ञा देते हुए अंदेशा व्यक्त किया था कि शायद 1967 का आम चुनाव भारत के लिए अंतिम लोकतांत्रिक चुनाव होगा। कई दूसरे विचारकों ने भी भाषावाद और क्षेत्रवाद के उभार के कारण इसी तरह का संदेह व्यक्त किया था। आप उस संकट और इस संकट के बीच में कैसे फ़र्क़ करते हैं? उस वक़्त हमारी दलीय प्रणाली बिल्कुल ख़तरे में नहीं थी। आख़िर वह कैसा संकट था और यह कैसा संकट है?

**ब्रिटिश व्यवस्था में राजनीतिक दलों की यह भूमिका नहीं है। हमारे संविधान में पार्टी का उल्लेख नहीं है, बल्कि यह कहा गया है कि बहुमत का शासन होना चाहिए। यह बात सिर्फ़ अप्रत्यक्ष रूप से ही सामने आती है कि बहुमत हासिल करने वाला दल या दलों का समूह शासन करेगा।**

**धीरूभाई :** उस समय का संकट आज के संकट की तरह नहीं था। इसलिए हम उस संकट से निकल गये। अभी का संकट कहीं ज़्यादा गहरा है, क्योंकि दलीय प्रणाली इस संकट की बुनियाद में है। प्रणालीगत संकट हल करने के लिए संरचनात्मक औज़ार ज़रूरी है। उस समय दलीय प्रणाली ऐसी थी। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। उस समय बहुत से लोगों ने भारतीय लोकतंत्र के बारे में नकारात्मक अंदेशा व्यक्त किया था, क्योंकि कई पेचीदा समस्याएँ उभर आयी थीं। यह साफ़ तौर पर मान लिया गया था भारत की अखंडता को ख़तरा है। भाषायी आंदोलन या भाषा आधारित राज्यों का आंदोलन ख़तरनाक ढंग से सामने आया था। जो लोग सत्ता में थे उन्हें लग रहा था कि भाषायी राज्यों के गठन से देश टूट जायेगा। उन्होंने भाषायी पहचान नियंत्रित रखने के लिए बहुभाषी राज्यों के गठन पर ज़ोर दिया था। लेकिन आंदोलनों ने एकभाषी राज्यों के गठन की माँग रखी जिसे सम्भावित

विघटन के रूप में देखा गया। वह एक मुश्किल समय था क्योंकि कांग्रेस और नेहरू भाषायी राज्यों के सख़्त ख़िलाफ़ थे। लेकिन उस समय दलीय प्रणाली और सामान्य राजनीतिक तंत्र आज की तुलना में मज़बूत थे।

भाषायी राज्यों का आंदोलन ज़ोर-शोर से चला। आंध्र में श्रीरामलु ने भाषायी राज्य की माँग करते हुए आमरण अनशन किया और अपने प्राणों की क़ुर्बानी दी। कांग्रेस ने महसूस किया कि उसके नज़रिये के विरोध में हो रही राजनीति काफ़ी मज़बूत है। इसलिए उसने सिद्धांत रूप में भाषायी राज्यों की माँग स्वीकार कर ली। इस तरह कांग्रेस ने अपने विरोधियों की इस राजनीति को अपने में मिला लिया और भाषायी राज्यों के लिए एक आयोग गठित हुआ। अगले दस सालों तक भाषा के आधार पर कई राज्यों का गठन होता रहा। मेरा मानना है कि व्यवस्था ने इस समस्या के प्रति सकारात्मक रवैया अपनाया और जिस चीज़ को भारत की अखंडता के लिए ख़तरा माना जा रहा था, वह देश के लिए फ़ायदे का सौदा साबित हुआ। यह पहला सबक था। लेकिन अब यह लगता है कि आप भाषा, क्षेत्र और अलग-अलग इतिहासों के आधार पर बनी प्राथमिक सांस्कृतिक पहचानों को आसानी से एक भारतीय पहचान या जुड़ाव में नहीं ढाल सकते। मुझे लगता है कि इस अर्थ में अगर आप उस परिस्थिति की आज से तुलना करें तो आप पायेंगे कि आज का संकट ज़्यादा सिस्टेमिक (प्रणालीगत) है।

**कमल :** तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि वह संस्थागत संकट नहीं था? वह नयी संस्थाओं के गठन से संबंधित था, और वर्तमान संकट ज़्यादा संस्थागत है?

**धीरूभाई :** मैं इस बात से काफ़ी हद तक सहमत हूँ। लेकिन उस परिस्थिति में भी ध्यान रखना चाहिए कि राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रवाद के स्थापित विचारों में भाषायी राज्यों की माँग बहुत आसानी से समायोजित नहीं हो पा रही थी। यदि प्रणालीगत संकट का कोई स्रोत था तो वह आधुनिक राज्य का वह विचार ही था जिसे हमने दूसरे समाजों से उधार लिया था। लोग यह भूल गये कि भारत एक आधुनिक राज्य है, लेकिन वह फ्रांस की तरह आधुनिक राज्य नहीं है। भारत में कई भाषायी और दूसरे तरह की पहचानें मौजूद हैं, जिन्हें एक साथ समायोजित करना एक संजीदा काम है। पहले के संकट और अभी के संकट में सिर्फ़ यही समानता है कि दोनों में ही एक तरह से प्रतिरोध के आंदोलन मौजूद हैं। देखने वाली बात यह है कि वर्तमान समय में इस तरह के प्रतिरोध आंदोलन किस तरह अपनी रणनीति बनाते हैं और व्यवस्था इनके संदर्भ में किस तरह की प्रतिक्रिया देती है। वैसे, मैं यह मानता हूँ कि भारत की व्यापक व्यवस्था में इस तरह के संकट का सामना करने के संसाधन मौजूद हैं।

**कमल :** आज सत्तारूढ़ और विपक्षी— दोनों खेमों की साख सार्वजनिक जीवन में बुरी तरह से गिर गयी है। देश के दोनों बड़े राजनीतिक दल कांग्रेस और भाजपा अंदर और बाहर से घिरे हुए हैं। कांग्रेस का ग्राफ़ गिर रहा है। लेकिन भाजपा का ग्राफ़ उसके बदले में उठ नहीं रहा है। हर तरह के राजनीतिक दलों का राजनीतिक हौसला पस्त हो चुका है। अभी तक ग़ैर-राजनीतिक समझी जाने वाली ताक़तें भ्रष्टाचार के सवाल पर सामने आ गयी हैं। क्या इससे हालात पर कुछ असर पड़ेगा, और क्या हमारे पहले से स्थापित राजनीतिक दल अपनी गिरती हुई साख रोक पाने में समर्थ हो पायेंगे? आपने कहा है कि पार्टियाँ एक परिवार में बदल गयी हैं। ये तो हुआ है लेकिन आम लोग तो पार्टियों को इस दृष्टि से नहीं देखते। ये हम लोग देख रहे हैं, शायद इसलिए कि हम इस क्षेत्र के अध्येता हैं। आम लोगों की ऐसी धारणा बन गयी है कि ये सब लोग एक-दूसरे से मिले हुए हैं और सब आपस में मिल-बाँट कर खा रहे हैं। लोगों के मन में यह विचार भी बैठ चुका है कि नेताओं, अफ़सरों और, कॉरपोरेट ताक़तें मिल कर भ्रष्टाचार कर रही हैं। नब्बे के दशक से पहले इस तरह की भावना नहीं थी। आप

यह कह रहे हैं कि वैश्वीकरण, उदारीकरण और संवृद्धि के कारण हम प्रणालीगत संकट से बचे थे। लेकिन शायद उसका यह प्रभाव यह भी हुआ है कि इस तरह की छवि बन गयी है। इसकी वजह से नेताओं की राजनीतिक वैधता नहीं बची है।

**धीरूभाई :** मैं पूरी बात इस तरह से नहीं रखूँगा। ये जो आप कह रहे हैं यह भारतीय समाज के एक हिस्से का नज़रिया है। लेकिन ऐसा नहीं है कि सब लोग ऐसा ही सोचते हैं। ऐसा सोच रखने वाले शहरी मध्य वर्ग के लोग ज़्यादा हैं। मैं ऐसा नहीं कह रहा हूँ कि सिर्फ़ शहरी या मध्य वर्ग का होने के कारण इसमें कोई सम्भावना नहीं है। इसमें एक क्रांतिकारी सम्भावना है। लेकिन इसके बावजूद हमें यह मानना होगा कि भारत में औपनिवेशिक समय से ही लोगों और गवर्नेंस के बीच एक रिश्ता है। यह रिश्ता 'हम' और 'वे' का है। लोग सरकार को हमेशा 'वे' के रूप में देखते आये हैं। यदि आप पश्चिमी लोकतांत्रिक समाजों में जाएँगे, तो आपका ध्यान इस बात की ओर जाएगा कि वहाँ लोग सरकार को इस तरह 'वे' नहीं मानते हैं, जैसा हमारे यहाँ लोग औपनिवेशिक शासन के समय से ही मानते चले आ रहे हैं। भारत में सरकार की नव-उपनिवेशवादी सामाजिक संरचना में नव-उपनिवेशवादी तरीक़े के शासक ही मौजूद रहे। इस कारण सरकार को 'वे' मानने की प्रवृत्ति चलती रही। भारत को जब आज़ादी मिली तो गाँधीवादी क्रांति हार गयी और प्रति-क्रंति की जीत हुई। मैं इसे इसी रूप में देखता हूँ। यदि गाँधी के कार्यक्रमों को देखें तो उनमें क्रांतिकारी सम्भावनाएँ थीं। लेकिन जब कांग्रेस के लोगों को शासन करने का मौक़ा मिला, तो प्रति-क्रांति सफल हो गयी। यह प्रति-क्रांति राज्यवादी (स्टेटिस्ट) थी। शिक्षा प्रणाली पहले की तरह ही रही, नौकरशाही की औपनिवेशिक संरचना क़ायम रखी गयी, इसी तरह अंग्रेज़ी भाषा का वर्चस्व न केवल क़ायम रखा गया— बल्कि उसे और ज़्यादा बढ़ावा दिया गया। इसलिए आज़ादी के बाद कोई बहुत ज़्यादा बदलाव नहीं हुआ। लोग 'हम' और 'वे' की तरह महसूस करते रहे। इसलिए चुनावों में लोग इस बात पर ध्यान देते हैं कि यह 'हमारा आदमी' है या नहीं है। आज की राजनीति में 'हमारा आदमी' का यह विचार बहुत ही गहरा है। मसलन, दक्षिण भारत की राजनीति में यह पूरी तरह हावी है। उत्तर-भारत में भी आप देख लीजिए। अगर यह यादव है तो हमारा आदमी है, जैसे विचार लोगों में मौजूद हैं। अधिकांश मौक़ों पर लोग इसी आधार पर वोट देते हैं।

**औपनिवेशिक समय से ही लोगों और गवर्नेंस के बीच एक रिश्ता है। यह रिश्ता 'हम' और 'वे' का है। लोग सरकार को हमेशा 'वे' के रूप में देखते आये हैं। यदि आप पश्चिमी लोकतांत्रिक समाजों में जाएँगे, तो ध्यान जाएगा कि वहाँ लोग सरकार को इस तरह 'वे' नहीं मानते हैं।**

यह सच है कि साठ के दशक की तुलना में लोकतंत्र को काफ़ी गहराई मिली है, इसका विस्तार हुआ है। यह लोकतांत्रिक प्रक्रिया की सफलता का उदाहरण है। लोकतांत्रिक प्रक्रिया में ठहराव, रुकावटें और फिर इन रुकावटों से उबरना, गतिशील होना आदि चलता रहता है। लेकिन जब संरचनात्मक संकट आता है, तो लगता है कि आर या पार की नौबत आ गयी है। मैं यह प्रस्तावना इसलिए दे रहा हूँ कि जो गठजोड़ की राजनीति है, उसका संस्थानीकरण नहीं हो रहा है। दूसरी तरफ़ यह भी एक सच्चाई है कि भारतीय समाज के संदर्भ में गठजोड़ की राजनीति का कोई विकल्प नहीं है। जब लोकतंत्रीकरण होता है, तो गठजोड़ बहुत ही आवश्यक हो जाता है। यह गठजोड़ एक पार्टी में सिमट नहीं सकता है। एक तरह की 'पैट्रिआर्की' से यह एक पार्टी के भीतर कुछ समय तक रह सकता है, लेकिन जब यह वर्चस्व टूटता है, तो एक पार्टी तक सिमट कर नहीं रह सकता। दरअसल,

भारत जैसे देशों में अलग-अलग दलों का गठजोड़ बनना ज़रूरी है। लेकिन समस्या यह है कि जो गठजोड़ बन रहे हैं, वे राजनीतिक न होकर सामाजिक हैं। यह मूल समस्या है। इसी कारण, जैसा कि मैंने ऊपर भी कहा है 'सामाजिक' का 'राजनीतिक' में बदलाव नहीं हो रहा है। 'राजनीतिक' अपनी बुनियाद में सेकुलर होता है। इसलिए जब सामाजिक राजनीतिक के रूप में ढलता है तो उसे सेकुलर रूप धारण करना होता है। सामाजिक के भीतर एक छोटे से समूह के हितों से परे जाने की बात नहीं होती है। इसलिए उसका राजनीतिक रूप में ढलना ज़रूरी होता है। दरअसल, छोटे समूह के हितों को व्यापक समाज के हितों में ढालने की प्रक्रिया, जो एक 'राजनीतिक' काम है, में रुकावट आ गयी है। इस संदर्भ में गठजोड़ की राजनीति महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह विविधता का प्रतिनिधित्व करती है। यह अपनी बुनियाद में ही बहु-सांस्कृतिक है। लेकिन अभी जो गठजोड़ हैं, वे सामाजिक और सामाजिक (सोशल-टू-सोशल) के बीच हैं। ज़रूरत यह है कि यह सामाजिक से राजनीतिक की ओर जाए।

मैं ऊपर दलों को संवैधानिक मान्यता देने की बात कह चुका हूँ। उससे संकट के एक पहलू को सम्बोधित किया जा सकता है। पर संकट का दूसरा पहलू यह है कि हमारे पास राजनीतिक गठजोड़ की संस्कृति नहीं है। इसका विकास करने की ज़रूरत है। राजनीतिक गठजोड़ एक आधुनिक विचार है। इसका एक समझौतावादी रूप होता है। आधुनिक जीवन में शादियाँ भी गठजोड़ की तरह ही होती हैं। अभी जिस तरह के गठजोड़ चल रहे हैं, वे सही नहीं हैं। ये गठजोड़ तो ठीक वैसे ही हैं कि जैसे कोई इंसान अपनी कुछ शर्तें रख कर कहे कि अगर कोई व्यक्ति उसकी इन माँगों को मान लेगा कि तो वह अपनी बेटी की शादी उससे कर देगा। गठजोड़ से जुड़े विभिन्न दल इसी तरह स्वार्थी माँगें पेश कर रहे हैं। यह ग़लत है। मेरे विचार से भाजपा के गठजोड़ वाली सरकार (राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़) इसलिए अच्छी तरह चली थी क्योंकि उसमें न्यूनतम साझा कार्यक्रम के बारे में गम्भीरता थी। दरअसल, गठजोड़ की सरकार चलाने के लिए न्यूनतम साझा कार्यक्रम बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अच्छा विचार है। संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की पहली सरकार में भी इसे लेकर थोड़ी गम्भीरता थी। लेकिन इसकी दूसरी सरकार में कोई भी न्यूनतम साझा कार्यक्रम का ज़िक्र नहीं करता है। मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूँ कि दलों की भूमिका को राजनीतिक मान्यता देने के साथ ही यह बात भी ज़रूरी है कि गठजोड़ की सरकारों को सफल और प्रभावी बनाने के लिए नये विचार और तौर-तरीक़े विकसित किये जाएँ। मसलन, मैं यह मानता हूँ कि चुनावों के बाद बनने वाले किसी भी ऐसे गठजोड़ को मान्यता नहीं दी जानी चाहिए, जिसमें राजनीतिक दल एक-दूसरे के ख़िलाफ़ चुनाव लड़े हों। यह तो हो सकता है कि राष्ट्रीय जनता दल (राजद) ने बिहार में चुनाव लड़ा और द्रमुक (डीएमके) ने तमिलनाडु में तो वे चुनावों के बाद गठजोड़ बना लें। लेकिन यह नहीं होना चाहिए कि पहले तो दो दलों के उम्मीदवार एक-दूसरे के ख़िलाफ़ चुनाव लड़ें और फिर चुनाव के बाद मिलकर सरकार बना लें। ये तो मतदाताओं को धोखा देने की तरह हुआ। मतदाताओं ने किसी दल के उम्मीदवार के ख़िलाफ़ वोट दिया, लेकिन उनके वोट के आधार पर जीते उम्मीदवार की मदद से फिर उसी दल की सरकार बन जाती है, तो यह ग़लत है। इसलिए मेरा मानना है कि इस तरह के चुनाव बाद गठजोड़ को संवैधानिक मान्यता नहीं दी जानी चाहिए। हमारे लिए गठजोड़ की राजनीति अनिवार्य है। यदि इत्तेफ़ाक़ से हमारे यहाँ द्वि-दलीय प्रणाली आ भी जाती है, तो वह नहीं चलेगी।

**'सामाजिक' का 'राजनीतिक' में बदलाव नहीं हो रहा है। 'राजनीतिक' अपनी बुनियाद में सेकुलर होता है। इसलिए जब सामाजिक राजनीतिक के रूप में ढलता है तो उसे सेकुलर रूप धारण करना होता है। सामाजिक के भीतर एक छोटे से समूह के हितों से परे जाने की बात नहीं होती है।**

एक दल का प्रभुत्व कुछ समय तक क़ायम रह सकता है, लेकिन आख़िरकार बहु-दलीय या गठजोड़ की राजनीति ही हमारी सामाजिक हक़ीक़त के अनुरूप है।

मुझे लगता है कि गठजोड़ की राजनीति में बड़े राजनीतिक दलों (मसलन कांग्रेस और भाजपा) का संघात्मक स्वरूप भी एक महत्त्वपूर्ण बिंदु है। कांग्रेस की तुलना में भाजपा की संरचना ज़्यादा संघात्मक है। अगर कांग्रेस की संरचना संघात्मक होती, तो वह इस तरह के संकट से उबर सकती थी। पहले की कांग्रेस, यानी कांग्रेस-प्रणाली वाली कांग्रेस ज़्यादा संघात्मक थी। उस समय राज्यों के नेता, या मुख्यमंत्री, या चुनावों में उम्मीदवार ज़्यादा संघीय तरीक़े से चुने जाते थे। उन्हें ऊपर से थोपा नहीं जाता था।

**कमल :** मुझे लगता है कि देश के दोनों बड़े दल ग़ैर-संवैधानिक गिरफ़्त में हैं। कांग्रेस एक वंश की गिरफ़्त में है और भारतीय जनता पार्टी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की गिरफ़्त में है। आजकल तो ऐसा लगता है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ही भाजपा के हर छोटे-बड़े मसले के बारे में फ़ैसला कर रहा है। एक तरफ़ तो यह स्थिति है ही, और दूसरी तरफ़ आपने यह ध्यान दिलाया है कि बहुत से छोटे या क्षेत्रीय दलों में सामाजिक का राजनीतिक में बदलाव नहीं हो रहा है। इस तरह की स्थिति के बारे में आपका क्या विचार है?

**धीरूभाई :** नहीं, मुझे लगता है कि पूरी तरह से ऐसा नहीं है और कम-से-कम दोनों के बीच तुलना नहीं की जा सकती है। असल में, संविधानेतर सत्ता की दल में एक भूमिका हो सकती है। राजनीतिक दल इससे कहीं ज़्यादा व्यापक रूप में फैला होता है। दल का ज़्यादा बड़ा आधार होता है, जिसे क़ायम रखने की ज़रूरत होती है। कार्यकर्त्ताओं का एक हुजूम होता है। कई दफ़ा यह भी होता है कि जो लोग सरकार में होते हैं, वे चुनावों के समय ही सक्रिय होते हैं। लेकिन बाक़ी समय में पार्टी अपने व्यापक नेटवर्क के आधार पर ही काम करती है। दल की एक सांगठनिक संरचना होती है और एक सरकारी संरचना होती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में मेरा यह मानना है कि भाजपा ने उसके संगठनात्मक महत्त्व को बहुत ज़्यादा तव्वज़ो दी है। इस तरह से वह अपना नुक़सान कर रही है। लेकिन उसका होना अपने आप में ग़ैर-संवैधानिक नहीं है।

**गठजोड़ की राजनीति में बड़े राजनीतिक दलों (मसलन कांग्रेस और भाजपा) का संघात्मक स्वरूप भी एक महत्त्वपूर्ण बिंदु है। कांग्रेस की तुलना में भाजपा की संरचना ज़्यादा संघात्मक है। अगर कांग्रेस की संरचना संघात्मक होती, तो वह इस तरह के संकट से उबर सकती थी।**

**कमल :** मैं आपका ध्यान इस ओर दिला रहा हूँ कि इसकी वजह से दलों के भीतर राजनीतिक प्रतियोगिता बहुत सीमित हो जाती है और उसका लोकतांत्रिक चरित्र ख़त्म हो जाता है। जैसे कि कांग्रेस के भीतर गाँधी परिवार से बाहर का कोई नेता सबसे बड़े पद की महत्त्वाकांक्षा नहीं रख सकता। इसी तरह भारतीय जनता पार्टी में कोई तब तक अध्यक्ष नहीं बन सकता है, जब तक उस पर संघ का ठप्पा न लग जाये।

**धीरूभाई :** लेकिन मैं मानता हूँ कि इन दोनों स्थितियों की कोई तुलना नहीं हो सकती है। दल का आधार ज़्यादा व्यापक होता है। यह एक आकस्मिक स्थिति है कि पार्टी ने ख़ुद को संघ के भरोसे छोड़ दिया है। लेकिन सिद्धांत की बात यह है कि दल का सरकार की तुलना में ज़्यादा व्यापक

आधार होता है। दल की एक विचारधारा होती है, जो सत्तारूढ़ होने पर उसे एक दिशा देती है और उसकी प्राथमिकताएँ तय करती है। दल का संगठन ही वोट और समर्थन जुटाता है। इसलिए दल के सत्तारूढ़ होने की स्थिति में यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि दल के संगठनात्मक ढाँचे और सरकारी ढाँचे (सत्तारूढ़ होने की स्थिति में) के बीच क्या संबंध है। कोई भी दल ऐसा नहीं है जिसमें ये दोनों एक जैसी हों। ऐसा सिर्फ़ श्रीमती इंदिरा गाँधी की पार्टी में था और इसी कारण कांग्रेस का पतन भी हुआ। उन्होंने कांग्रेस के पुराने संघीय ढाँचे को नष्ट कर दिया। आपको याद होगा कि साठ के दशक के आख़िरी वर्षों में जब कांग्रेस का विभाजन हुआ था, तो इंदिरा गाँधी की कांग्रेस से अलग हुए धड़े ने ख़ुद को संगठन कांग्रेस या कांग्रेस (ऑर्गनाइजेशन) कहा था। इसलिए हर दल का एक संगठनात्मक पहलू रहा है। सवाल यह है कि संगठनात्मक और सरकारी ढाँचे के बीच कितना लोकतांत्रिक संबंध है। यानी क्या संगठन लोकतांत्रिक तरीक़े से गठित है, वहाँ विभिन्न पदों के लिए चुनाव होते हैं आदि। यह पहले की कांग्रेस में था।

**कमल :** लेकिन न तो वह अब कांग्रेस में है और न ही भाजपा में? कांग्रेस की हालत तो स्पष्ट है, भाजपा की भी यही स्थिति है। जब राजनाथ सिंह भाजपा के अध्यक्ष थे तो पार्टी के संविधान में यह संशोधन किया गया कि सिर्फ़ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से आया व्यक्ति ही पार्टी का संगठन मंत्री हो सकता है। इसी तरह, नितिन गडकरी को दोबारा अध्यक्ष बनाने के लिए भी पार्टी के संविधान में संशोधन किया गया। इन दोनों संशोधनों के पीछे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रभाव रहा है।

> **किसी भी पार्टी का संगठन के बग़ैर अस्तित्व नहीं हो सकता है। कोई राजनीतिक दल लोकतांत्रिक नहीं है। यह सही है कि संघ द्वारा पार्टी का नियंत्रण अलोकतांत्रिक है, लेकिन सरकार के स्तर पर यह संविधानेतर नहीं है। आख़िर कौन सी पार्टी है जो भारतीय जनता पार्टी जैसी नहीं है।**

**धीरूभाई :** यह एक आकस्मिक स्थिति हो सकती है। लेकिन मैं एक सिद्धांत को इस तरह की स्थिति के लिए क़ुर्बान नहीं करना चाहता हूँ। सिद्धांत यह है कि पार्टी संगठन के बग़ैर काम नहीं कर सकती है। पार्टी अपनी विचारधारा और समर्थन आधार में ज़्यादा व्यापक होती है। पार्टी का संगठन ही उसके कार्यक्रमों को जनता तक ले जाता है और फिर उसके आधार पर सरकार गठित होने पर दबाव की भूमिका बनाता है। किसी भी पार्टी का संगठन के बग़ैर अस्तित्व नहीं हो सकता है। मेरी मूल समस्या यह है कि कोई राजनीतिक दल लोकतांत्रिक नहीं है। यह सही है कि संघ द्वारा पार्टी का नियंत्रण अलोकतांत्रिक है, लेकिन सरकार के स्तर पर यह संविधानेतर नहीं है। आख़िर कौन सी पार्टी है जो भारतीय जनता पार्टी जैसी नहीं है। आप समाजवादी पार्टी या बहुजन समाज पार्टी के बारे में क्या कहेंगे? इसलिए सेकुलरवाद-सम्प्रदायवाद के आधार पर इस सिद्धांत को मत तौलिए। हम दलीय प्रणाली के सिद्धांतों और संगठन की बात कर रहे हैं। आख़िर दलीय प्रणाली में संगठन और सरकार के बीच क्या संबंध होना चाहिए और संगठन को किस तरह ज़्यादा लोकतांत्रिक बनाया जा सकता है। यह सिद्धांत हर दल पर एक ही तरह से लागू होना चाहिए।

**कमल :** क्या यूरोप और अमेरिका में भी राजनीतिक दलों के सामने कभी ऐसी स्थिति आयी है, जब राजनीतिक दलों की साख इतनी ज़्यादा गिर गयी हो। आख़िर उन्होंने इसका सामना कैसे किया?

**धीरूभाई :** इस सवाल का जवाब दो स्तरों पर मिल सकता है। पहली बात तो यह है कि यह संकट किसी-न-किसी तरह से हर लोकतंत्र में है। लेकिन पश्चिमी लोकतंत्र उस स्थिति से बच गये, जो आज भारत में हैं। इसका कारण यह है कि उन समाजों में राजनीति ने अपनी केंद्रीय अहमियत खो दी।

यहाँ राजनीति सबसे मुख्य चीज़ है, वहाँ अर्थव्यवस्था सबसे प्रमुख है। अर्थव्यवस्था पॉलिटी की तरह नहीं है, यह ज़्यादा फैली हुई और विविधता से भरी है। हम यह भी कह सकते हैं कि कुछ संदर्भों में यह खुली हुई भी है। अधिकांश विकसित देशों में अर्थव्यवस्था और राजनीति में पूर्ण विच्छेद हो गया है। वहाँ आर्थिक पहलू राजनीति से स्वायत्त हो चुका है। लेकिन हमारे यहाँ अर्थव्यवस्था को इतनी ज़्यादा स्वायत्तता नहीं है। हमारे यहाँ समाज की भी स्वायत्तता नहीं है। लोगों के जीवन में राज्य की बहुत बड़ी भूमिका है। इसलिए पश्चिमी समाजों में लोग राजनीति से उदासीन रह सकते हैं। लेकिन हमारे यहाँ राजनीति से उदासीन या अलग-थलग रहना बहुत मुश्किल है। हमारे यहाँ यह सबसे आख़िरी व्यक्ति से लेकर सबसे धनी व्यक्ति तक के लिए जीवन और मरण का प्रश्न है। सबसे ग़रीब व्यक्ति अपनी जीविका के लिए राजनीति से जूझता है। दूसरी ओर, अमीर व्यक्ति को राजनीति की चिंता इसलिए होती है क्योंकि वह शायद अपनी आने वाली दस पीढ़ियों के लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा सम्पत्ति इकट्ठा करना चाहता है। इससे राजनीति की स्थिति केंद्रीय बन गयी है, और इसी कारण हम ज़्यादा गहरे संकट का सामना कर रहे हैं। वैसे तो पश्चिमी देशों में लोकतंत्र के सामने कई समस्याएँ आती रहती हैं, लेकिन हमारा संकट ज़्यादा गहरा है। इसलिए इस बात पर गम्भीरता से सोचने की ज़रूरत है कि प्रतिनिधित्व को ज़्यादा प्रतिनिधित्वमूलक कैसे बनाया जा सकता है। यह सभी लोकतंत्रों के लिए बहुत ही गहरा सवाल है।

**कमल :** एक ज़माने में विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) राजनीतिक प्रणाली में सुधार के लिए सुझावों की विधिवत कार्यसूची पेश किया करती थी। क्या आज फिर ऐसा वक़्त नहीं आ गया है कि आपके जैसे समाज-वैज्ञानिक एक बैठक करें और 'एजेंडा फ़ॉर चेंज' का सूत्रीकरण करें ताकि एक भिन्न क़िस्म का विमर्श परवान चढ़ सके?

**हम चाहे कितना भी दावा करें, आज पहले की तुलना में हम 'समकालीन' पर बहुत कम ध्यान दे रहे हैं। हम राजनीति से पैदा हुई शब्दावलियों का ही प्रयोग कर रहे हैं। हम राजनीति को कोई नया विमर्श नहीं दे रहे हैं।**

**धीरूभाई :** बिल्कुल ऐसा होना चाहिए। लेकिन सवाल यह है कि हम ऐसा कैसे कर सकते हैं। इसमें इस बात पर भी ध्यान देने की ज़रूरत है कि एक बुद्धिजीवी, अकादमीशियन या नागरिक के रूप में हम अपनी भूमिका को किस रूप में देखते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि हम अभी विभिन्न मुद्दों पर चिंतकों के रूप में नहीं बल्कि नागरिकों के रूप में अपनी प्रतिक्रिया देते हैं। कम-से-कम अभी तो यही स्थिति है। जब हम यह कहते हैं कि हम सेकुलर हैं, समतावादी हैं और अच्छी या भ्रष्टाचारविहीन राजनीति का समर्थन करते हैं, तो हमारा रवैया वैसा ही होता है जैसा किसी एक अच्छे मध्यवर्गीय नागरिक का हो सकता है। हम नागरिकों के तौर पर ही अपना लंच करते हुए कई दूसरी जगहों पर राजनीति की ग़लत या नकारात्मक बातों की आलोचना करते हैं। लेकिन हम नागरिक हैं या चिंतक? मुझे लगता है कि हम अपनी तरफ़ से किसी नयी दिशा की ओर संकेत नहीं कर पा रहे हैं। मैं अतीत के बारे में बात करना पसंद नहीं करता हूँ। लेकिन फिर भी मेरा मानना है कि हम चाहे कितना भी दावा करें, आज पहले की तुलना में हम 'समकालीन' पर बहुत कम ध्यान दे रहे हैं। हम राजनीति से पैदा हुई शब्दावलियों का ही प्रयोग कर रहे हैं। हम राजनीति को कोई नया विमर्श नहीं दे रहे हैं। हमारे जैसे संस्थान की जो भूमिका होनी चाहिए, उसके बारे में हमें अतीत पर नज़र दौड़ानी ही होगी। जब कांग्रेस प्रणाली जैसी अवधारणाएँ सामने आयं थीं, उस समय पूरे विमर्श पर मार्क्सवाद हावी था। लेकिन धीरे-धीरे हमारी बातें भी नया विमर्श पैदा करने लगीं। लेकिन मुझे लगता है कि हम

अब राजनीति को कोई नया विमर्श नहीं दे पा रहे हैं। हम नीतियों की आलोचना करते हैं, लेकिन हम मुद्दे तैयार नहीं कर रहे हैं। आख़िर हमने पिछले दस सालों में भारत के लिए कौन से मुद्दे तैयार किये हैं? मुझे लगता है कि शायद हम ज़्यादा वैश्विक रूप में मुद्दे तैयार कर रहे हैं, या मुद्दों को तैयार करने में भागीदारी कर रहे हैं। अभी भ्रष्टाचार विरोध में कुछ हो रहा है, लेकिन मुझे नहीं पता कि यह कहाँ जाएगा। अगर हम इन बातों पर सोचें कि क्या हम मुद्दों को गहरे रूप से विचार करते हुए तैयार कर रहे हैं, तो शायद हम अपने एक दृष्टिकोण का विकास कर पायेंगे। ऐसा करके हम एक पूरी बहस में ज़ोरदार तरीक़े से हस्तक्षेप कर पायेंगे, जो प्राथमिक रूप से एक्टिविस्ट क़िस्म का नहीं होगा, बल्कि विचारों की राजनीति से संबंधित होगा।

**कमल :** आपके अनुसार भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन का क्या भविष्य है?

**धीरूभाई :** मैं सुनिश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि चुनावी राजनीति एक बिल्कुल ही अलग आधार पर काम करती है। लेकिन यदि यह (आम आदमी पार्टी) आंदोलन की शक्ल में आगे बढ़ती है, यदि यह अपनी चुनावी भूमिका के बारे में जागरूक रहती है, तो इसे एक दिशा मिल सकती है। यदि पार्टी-आंदोलन (अरविंद केजरीवाल) और आंदोलन (अण्णा हज़ारे) आपस में एक तरह की समझ या जुड़ाव बना पायें, आपस में एक द्वंद्वात्मक संबंध विकसित कर पायें, तो इसे मज़बूती मिल सकती है। जैसा विनोद मिश्रा के नेतृत्व वाले इंडियन पीपुल्स फ्रंट का अपनी भूमिगत पार्टी के साथ संबंध था। लेकिन व्यक्तिगत टकरावों से इसमें बिखराव भी आ सकता है। बहरहाल, अभी मैं इसमें एक सम्भावना भी देखता हूँ। भ्रष्टाचार सभी बुराइयों की जड़ है। समाज में तमाम तरह के भ्रष्टाचार मौजूद हैं, लेकिन यहाँ मैं सरकारी भ्रष्टाचार की बात कर रहा हूँ। इसीलिए मुझे लगता है कि आंदोलन को सरकारी भ्रष्टाचार पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। इसलिए मेरा यह मानना है नितिन गडकरी का भ्रष्टाचार सामने आने से भाजपा को नुक़सान हुआ और यह सही हुआ। लेकिन इससे आंदोलन की धार थोड़ी कम हुई। मुझे लगता है कि अभी इसे सरकारी भ्रष्टाचार पर ही ध्यान देना चाहिए। उन्हें जहाँ कहीं भी भाजपा की सरकार है, वहाँ पर उन सरकारों के भ्रष्टाचार का पर्दाफ़ाश करना चाहिए। असल में, सरकारी भ्रष्टाचार ही असली समस्या है। दूसरे तरह के भ्रष्टाचार भी हैं लेकिन सबसे पहला हमला सरकारी भ्रष्टाचार पर किया जाना चाहिए।